१२५

श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

अष्टपाहुड

संस्कृत छाया तथा भाषानुवाद सहित.

हिन्दी अनुवादक—

पारसदास जैन न्यायतीर्थ,

धर्माध्यापक जैन अनाथाश्रम देहली।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तुमंगलम्॥

प्रकाशक—

भारतवर्षीय अनाथरक्षक जैन सोसायटी,

दर्यागंज—देहली।

प्रथम संस्करण १०००

वी० नि० सं० २४६९.

ई० सन् १९४३.

मूल्य डेढ़ रुपया

PART I.

ENGLISH TRANSLATION WITH INTRODUCTION.

BY

JAGAT PERSHAD M. A., B. SC., C. I. E.

"The Eight Presents—This is a free but full, expressive and faithful rendering in English by Mr. Jagat Pershad M. A, B. Sc. C. I. E., of Ashta-Pahuda, the extremely helpful treatise on jaina philosophy in Prakrit by Kunda Kunda Acharya.

Kunda Kunda has, as stated by the author, the warmth and fervour of an original author who was a saint, a sage, a poet and a preacher, all combined, and who writes not merely to instruct but also to convince, move elevate his readers. The treatise is divided into eight chapters; faith, scripture, Conduct, Enlightenment, Realization, Emancipation, Insignia and Virtue. A condensed and yet exhaustive presentation of the subject matter in the introduction has very greatly exhanced the value of this brochure. The learned translator has very aptly observed that the differences between the Digambara and Swetambara sects relate only to some trivial details in the daily routine prescribed for monks, which do not affect any principle what ever. It is a very useful book for jainas and non jainas who are interested in the study of the Principles of jain philosophy, and is available from the "Jain Orphanage society, Darya Ganj, Delhi."

Jaina Gazette.

दि०अ४४२२-३२५

भारतवर्षीय अनाथ रक्षक जैन सोसायटी देहली के
आनरेरी जनरल सैक्रेटरी तथा ट्रस्टी.

ला० जगत प्रसाद जी.

M. A., B. Sc., C. I. E., A. G. P. & T., (Retd.)

आप जैन समाज में एक उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान हैं। धर्म प्रचार, शिक्षा तथा स्पोर्टस् (Sports) से आपको विशेष प्रेम है। आपकी हार्दिक भावना है कि अन्य मतावलम्बियों में भी जैन धर्म का अधिक से अधिक प्रचार हो। अमेरिका, जर्मनी आदि देशों से जो स्कालर रिसर्च के लिये आते हैं, वे जैन धर्म की जानकारी के लिये आपसे अवश्य मिलते हैं।

आप श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अनन्य भक्त हैं तथा उनके ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद विशेष उत्साह से कर रहे हैं। जिनके प्रकाशन के लिये सोसायटी में ट्रेक्ट विभाग चालू कर प्रथम पुष्प के लिये १०००) रु० प्रदान किये हैं।

—रघुवीरसिंह कोठी वाले, मन्त्री—ट्रेक्ट विभाग सब कमेटी.

प्राक्कथन

श्रीयुत बाबू जगतप्रसाद जी के द्वारा लिखी गई अष्टपाहुड की भूमिका का हिन्दी अनुवाद तथा पं० पारसदास जी शास्त्री द्वारा किया गया अष्टपाहुड का हिन्दी अनुवाद हमारे सामने है।

भूमिका में लिखे गए कुछ मुद्दों के विषय में दो शब्द लिखना यहां अवसर प्राप्त है।

(१) आ० कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा में अवश्य ही यह विचार प्रस्तुत किया है कि केवली भगवान् जगत् के समस्त पदार्थों को व्यवहारनय से ही देखते जानते हैं, निश्चयनय से तो वे अपनी आत्मा को ही जानते देखते हैं। निश्चय की भूतार्थता और परमार्थता का तथा व्यवहारनय की अभूतार्थता का विचार तो हमें इस नतीजे पर पहुँचा देता है कि केवल ज्ञान का पर्यवसान वस्तुतः आत्मज्ञान या अन्ततः तत्त्व ज्ञान में होता है। परन्तु यही आ० कुन्दकुन्द प्रवचनसार में क्षायिक ज्ञान का वर्णन अर्थोन्मुख प्रकार से भी करते हैं।

"जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ १४७ ॥"

अर्थात् जो त्रिकालदर्शी समस्त विचित्र अर्थों को युगपत् जानता है वह क्षायिक ज्ञान है। और इसके आगे की दो गाथाओं में उन्होंने "जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को नहीं जानता वह एक द्रव्य को ठीक नहीं जान सकता और जो एक द्रव्य को ठीक नहीं जानता वह त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्यों को नहीं जान सकता" इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। प्रवचनसार का क्षायिक ज्ञान का लक्षण यह स्पष्ट बता रहा है कि आ० कुन्दकुन्द केवल ज्ञान को त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का जानने वाला कह रहे हैं। पर आगे की दो गाथाओं में केवल ज्ञान के विषय में उनकी नियमसार की आत्म ज्ञान वाली दृष्टि तथा प्रवचनसार की त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानने की दृष्टि संक्रान्त हो जाती है। वे गंगा जमुना की तरह मिल कर आगे एक रूप में बहना चाहती हैं। वे इन गाथाओं में सम्भवतः इस नतीजे पर पहुँच रहे हैं कि आत्मा में अनन्त पदार्थों के जानने की शक्ति है और यदि उस अनन्त शक्तिशाली आत्मा का प्रत्येक शक्ति का विश्लेषण कर यथार्थ ज्ञान कर लिया तो उन शक्तियों के विषय होने वाले अनन्त पदार्थों का ज्ञान तो हो ही जायगा। और यदि अनन्त पदार्थों को जान लिया तो उन पदार्थों

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥"

को जानने की शक्तियों के आधार भूत आत्मा को तो जानना ही पड़ेगा अन्यथा उन पदार्थों का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। उनका यह वर्णन आचाराङ्ग सूत्र (१२३) के "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" अर्थात् जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। इस सूत्र में बताए गए सिद्धान्त का दार्शनिक रूप है। जो केवल इतना ही निर्देश करता है कि त्रिकालदर्शी पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही अपेक्षित है। उपनिषदों में "य आत्मवित् स सर्ववित्" जो आत्मा को जानता है वह सबको जानता है" इस आशय के अनेकों वाक्य मिलते हैं। मेरा यह विश्वास है कि दर्शनयुग के पहिले आत्मज्ञता पर ही अधिक भार था। यह तो तर्क युग की विशेषता है कि इस युग में उन सिद्धान्तों की भावनाओं पर उतना ध्यान नहीं रहा जितना दर्शन प्रभावना तथा शाब्दिक खींचतान पर। अस्तु, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आ० कुन्द कुन्द निश्चय से आत्मज्ञान वाले सिद्धान्त के कायल थे और वे उसका मुख्यरूप से प्रतिपादन करना चाहते हैं।

सर्वज्ञ शब्द के अर्थ का एक अपना इतिहास है जो विभिन्न समयों में विभिन्न दर्शनों में अलग २ रूप में विकसित हुआ है। सर्वज्ञत्व के प्रबल विरोधी मीमाँसक का विवाद सर्वज्ञ शब्द के साधारण अर्थ से नहीं है। वह इस बात का विरोधी है कि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कोई प्रत्यक्ष से नहीं जान सकता, इसका ज्ञान वेद के द्वारा ही हो सकता है। उसे किसी को प्रत्यक्ष से धर्मज्ञ बनाना सह्य नहीं है। यदि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को वेद से तथा अन्य पदार्थों को यथा संभव प्रत्यक्ष अनुभव आदि प्रमाणों को जानकर कोई यदि टोटल में सर्वज्ञ बनता है तो उसे कोई आपत्ति नहीं है। कुमारिल भट्ट मीमाँसा श्लोक वार्तिक (पृ० ८०) में स्पष्ट लिखते हैं:—

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते॥" मीमाँसा श्लो०)
"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥" * (तत्त्व सं० पृ० ८१७)

अर्थात सर्वज्ञनिषेध से हमारा तात्पर्य धर्मज्ञनिषेध से है, धर्म को वेद के द्वारा और अन्य पदार्थों को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानकर कोई सर्वज्ञ बनता है तो हमें कोई विरोध नहीं। एक प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ बनने वाला व्यक्ति तो आँखों से ही रस को चखने का साहस करता है आदि। परन्तु बौद्ध दार्शनिक धर्म कीर्ति अपने प्रमाण वार्तिक (२-३२-३३) में ठीक इसके विरुद्ध लिखते हैं;—

* यह कारिका कुमारिल के नाम से तत्त्वसंग्रह में उद्धृत है।

"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसंख्या परिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥"

भाव यह है कि वह सबको जाने या न जाने पर उसे हेय और उपादेय और उनके उपाय रूप धर्म का अवश्य परिज्ञान होना चाहिए। उसे प्रत्यक्ष धर्मज्ञ होना चाहिए। धर्म के सिवाय अन्य कीड़े मकौड़ों की संख्या के ज्ञान का क्या उपयोग है ? आदि

इस तरह हम देखते हैं कि दर्शनयुग के मध्यकाल में भी विवाद धर्मज्ञता में था न कि सर्वज्ञता में। सर्वज्ञता का मानना न मानना मुद्दे की वस्तु नहीं थी।
❀ अन्य दर्शनों में सर्वज्ञता एक योगजन्य विभूति के रूप में स्वीकृत है यह सभी मोक्ष जाने वालों को अवश्य प्राप्तव्य तथा मोक्ष में रहने वाली वस्तु नहीं है। यह तो जैन दर्शन की विशेषता है कि इसमें सर्वज्ञता सभी मोक्ष जाने वालों को प्राप्त होती है तथा सिद्ध अवस्था में भी अनन्तकाल तक बनी रहती है।

(२) लेखक ने प्रवचनसार में तथा अष्टपाहुड में आई हुई स्त्रीदीक्षा का निषेध करने वाली गाथाओं के प्रक्षिप्त होने का प्रश्न अत्यन्त स्पष्टता और निर्भयता से उठाया है। इन गाथाओं से जैसा कि लेखक का लिखना है कि कुन्दकुन्द एक कट्टर साम्प्रदायिक और स्त्रियों से घृणा करने वाले व्यक्ति के रूप में उपस्थित होते हैं। मेरा विचार है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति हैं जब साम्प्रदायिक मत-भेद की बातों ने संघर्ष का रूप नहीं पकड़ा था। और इसीलिए इसमें सन्देह को काफी गुंजाइश है कि क्या ये गाथाएं स्वयं कुन्दकुन्द की कृति होंगी ? मेरा तो यह भी विचार पुष्ट होता जाता है कि दिगम्बर आचार्यों का स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक विषयों पर श्वेताम्बरों से उतना विरोध नहीं था जितना यापनीय संघ के आचार्यों से था। ये यापनीय आचार्य स्वयं नग्न रह कर भी आचारांग आदि आगमों को प्रमाण मानते थे तथा केवलिमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का समर्थन करते थे। यापनीय आचार्य शाकटायन ने केवलि मुक्ति और स्त्रीमुक्ति ये दो प्रकरण ही बनाये हैं जिनका खंडन आ० प्रभाचन्द्र ने न्याय कुमुदचन्द्र में किया है। आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर थे और इसीलिए वे स्त्रीमुक्ति के विरोधी रहे होंगे। यह बात असंदिग्ध है। पर क्या उनके समय में इन विषयों पर उस रूप में साहित्यिक संघर्ष चालू हो गया होगा ? यही प्रश्न ऐसा है जो हमें इस नतीजे पर पहुंचा देता है कि उक्त गाथाएं प्रक्षिप्त होनी चाहिए। आ० अमृतचन्द्र जो कि कुन्दकुन्द के उपलब्ध टीकाकारों में आद्य टीकाकार हैं, उन गाथाओं की व्याख्या

❀ इसके विशेष इतिहास के लिए अकलङ्कग्रन्थत्रय की प्रस्तावना का सर्वज्ञत्व विचार तथा प्रमाण मीमाँसा भाषा टिप्पण (पृ० २१) देखना चाहिए।

न करना उक्त गाथाओं के प्रक्षिप्त होने का एक विशिष्ट सबल प्रमाण है। आ० कुंदकुंद का समय मर्करा के ताम्रपत्र (सं० ३८८) के उल्लेखानुसार अन्ततः अभी प्रथम शताब्दी माना जा रहा है। श्री मान् प्रेमीजी का यह विश्वास है कि कुंदकुंद विक्रम की ५-६ वीं शताब्दी के आचार्य होंगे। जो हो, पर इतना निश्चित है कि उनकी कृतियां हमें यह बता देती हैं कि वे साम्प्रदायिक तीव्रता आने वाले युग के पहिले ही के व्यक्ति हैं। इनके समय के विषय में अभी और भी संशोधन की गुंजाइश है।

आ० कुंदकुंद के अष्टपाहुड में अनेकों गाथाएं ऐसी जो आवश्यकनिर्युक्ति, दस प्रकीर्णक, दशवैकालिक, आदि श्वे० आगमग्रथों में पाई जाती हैं। इस विषय में तो यह मानना समुचित है कि भगवान महावीर स्वामी के उपदेश की प्राचीन गाथाएं कण्ठ परम्परा से चली आती थीं और उन्हें वे जिस प्रकार आगमसंकलना के समय आगमों में सगृहीत हुईं उसी तरह आ० कुंदकुंद ने अपने ग्रन्थों में भी निबद्ध किया है।

अष्टपाहुड ग्रंथ के विषय का सामान्य परिचय प्रस्तावना में दिया ही गया है। आ० कुंदकुंद का साहित्य दि० जैन साहित्य के कोष्ठागार में अपना बहुमूल्य विशिष्ट स्थान रखता है और उनकी प्रकृति आध्यात्मिक होने के कारण उनका साहित्य प्रायः साम्प्रदायिक मतभेदों से अलिप्त रहा होगा। अभी इन पाहुडों की प्राचीन प्रतियों पर से इस बात की जाँच की जरूरत है कि उनमें ये सभी गाथाएं पाई जाती हैं जो आज उनमें दर्ज हैं। आज रयणसार की जितनी प्रतियां मिलती हैं उनमें गाथाओं की हीनाधिकता तथा प्रक्षिप्तत्ता पर पूरा पूरा प्रकाश पड़ता है।

अन्त में मैं बाबू जगत्प्रसादजी को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने संस्कृत के विद्वान् न होते हुए भी इसमें यथेष्ट श्रम किया और ग्रन्थ को प्रामाणिकता के साथ अंग्रेजी में अनुवाद किया है। मुझे अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञों से उनके अनुवाद के विषय में काफी सन्तोषकारक वाक्य सुनने को मिले। प्रस्तावना में भी उन्होंने अपनी सामग्री और शक्ति के अनुसार पूर्व ग्रहों से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचार किए हैं। पं० पारसदासजी शास्त्री का अनुवाद भी ठीक हुआ है। पर गाथाओं की भाषा में अभी संशोधन की पर्याप्त गुंजाइश है। आशा है कि आगे बाबू जगत्प्रसाद जी इसी तरह अन्य साहित्यिक कार्यों में अपना समय लगाएंगे। अन्त में अपनी इस सूचना के साथ ही अपना प्राक्कथन समाप्त करता हूं कि जिस ग्रन्थ का भी कार्य हो पहिले उसकी प्राचीन प्रतियों से मिलान करके मूलपाठ की शुद्धि करके ही अनुवाद आदि होने चाहिएं जिससे ग्रन्थ का अपने गौरव के साथ सम्पादन हो। आज सम्पादन का मापदण्ड काफी ऊंचा हो गया है। अतः इसके अनुरूप ही हमें प्रगति करना चाहिए।

स्याद्वाद महाविद्यालय
काशी.

महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य.

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक भगवत् कुन्दकुन्द विरचित् "अष्ट पाहुड" का अनुवाद है, जो जन साधारण को जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय कराने के उद्देश्य से लिखी गई है।

इस कार्य में मुझे ३ प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हुए:—

(१) पं० रामप्रसादजी का बम्बई से सन् १९२४ में छपा संस्करण जिसमें हिन्दी प्रशस्ति भी दी गयी है।

(२) पं० पन्नालालजी द्वारा षट् प्राभृत' जो सन् १९२० में बम्बई से श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुआ है।

(३) पं० सूरजभान जी कृत 'षट् पाहुड' जिसमें छः अध्याय की मूल गाथाएं तथा उनका हिन्दी का अनुवाद भी दिया गया है।

इन तीनों संस्करणों में मूल गाथाओं के साथ संस्कृत छाया भी दी गई है।
अध्याय ३ गाथा १४ तथा अध्याय ५ गाथा ५२ को छोड़कर उपरोक्त संस्करणों में विशेष अन्तर नहीं है।

पं० रामप्रसाद जी सम्पादित मूल गाथा ३-१४ अपने विषय का प्रतिपादन नहीं करती, अन्य संस्करणों का पाठ दूसरे शब्द के अंतिम अक्षर को तीसरे शब्द की आदि में उपसर्ग की भाँति प्रयुक्त करने पर ठीक बैठ जाता है और यह सही पाठ कहा जा सकता है।

अध्याय ५ की ५२ वीं गाथा पं० पन्नालाल जी तथा पं० सूरजभान जी प्रकाशित संस्करणों में समान है। पं० पन्नालाल जी के संस्करणों में श्रुत सागर सूरि की संस्कृत प्रशस्ति भी है जो ईसा की १६ शताब्दी के विद्वान् थे। पं० रामप्रसाद जी का संस्करण सन् १९१० में लिखित पं० जयचन्द्र जी कृत हिन्दी टीका के आधार पर है। इसके अतिरिक्त पं० पन्नालाल जी ने अपने संस्करण का कई हस्त लिखित लिपियों से मिलान करने का परिश्रम किया, परन्तु पं० रामप्रसाद जी ने अपनी रचना किसी ऐसी जाँच का उल्लेख नहीं किया, प्रशस्ति करने पर भी ध्यान नहीं दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति ने श्रुतज्ञानी शब्द की मनोनीत परिभाषा करने के लिए गाथा को दूसरे ही प्रकार लिख दिया है, उनका प्रयास

श्रुत ज्ञानी और श्रुत केवली को समान मानना है। गाथा में उल्लिखित भव्यसेन को भाव श्रमण पद प्राप्त नहीं हुआ बल्कि ११ अङ्ग और ९ पूर्व के पाठी होने पर सकल श्रुत ज्ञानी भी नहीं थे। इसका प्रभाव भगवान महावीर के उत्तराधिकारियों विशेषकर श्री कुन्दकुन्द का स्थान कहा था, इसकी जाँच आगे की जायगी।

संस्कृत के संस्करण में प्राकृत गाथा का अनुकरण करने के लिए कुछ व्यर्थ शब्दों का प्रयोग किया गया है इनको जैसे का तैसा रहने दिया। पं० पारसदासजी का हिन्दी अनुवाद भावार्थ के रूप में है। श्री कुन्दकुन्द की रचनाओं पर प्राचीन टीकाएं संस्कृत में हैं, उनमें संस्कृत की छाया अवश्य है किन्तु अनुवाद का प्रश्न इन प्रशस्तियों में कभी नहीं उठा, यह एक प्रकार का तात्पर्य है। पं० पारसदास जी की टीका भी इसी बात का अनुकरण करती है, हाँ उसमें विस्तार कम कर दिया है और बहुत सी बढ़ी हुई बातें इस आशय से छोड़ दी गई हैं कि विस्तार करने से पढ़ने वालों का ध्यान मूल पर न जायगा।

मेरा उद्देश्य अनुवाद को ठीक शब्दों में रखने का रहा है जिससे मूल गाथा का असली तत्व भंग न हो, सम्भव है कि कहीं पर उपयुक्त शब्दों का प्रयोग न हो सका हो।

'सूत्र पाहुड' की २४, २५ तथा २६ वीं गाथाएं अंग्रेजी अनुवाद में छोड़ दी गई हैं, जिसकी व्याख्या की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में प्रवचनसार के मूल पर भी ध्यान देने की जरूरत है। प्राचीन हस्त लिखित प्रतियों में ये मूल साधारणतया श्री अमृतचन्द्र अथवा श्री जयसेन की टीका की प्रशस्तियों से मिलता है।

श्री अमृतचन्द्र ई० १००० से पहले हुए हैं। श्री जयसेनाचार्य ई० १२०० में। इन्होंने श्री अमृतचन्द्राचार्य की प्रशस्ति को देखा था, और बहुत हदतक उन्होंने इसका अनुकरण किया, किन्तु उनके मूल में २२ गाथाएं और बढ़ी हुई मिलती हैं। उन्होंने लिखा है कि श्री अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं को छोड़ दिया था लेकिन इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया और न यह लिखा है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर श्री जयसेन ने ऐसा लिखा है, क्या वे अमृतचन्द्र को उपलब्ध न थे। इन २२ अतिरिक्त गाथाओं में से ११ तो तीसरे अध्याय में २४ वीं गाथा के बाद हैं, और यदि कोई प्रवचनसार को पढ़े तो यह गाथाएं एक दम अनुपयुक्त जान पड़ेंगी। गाथाएं स्त्रियों को मोक्ष न होने की पोषक हैं। एक गाथा दीक्षा के लिए जाति की महत्ता के सम्बन्ध में है। प्रवचनसार एक दार्शनिक ग्रन्थ है और उसमें आवश्यक तत्वों की भी गन्वेषणा नहीं की गई जिनका उसमें वर्णन है। मैंने इन बातों का अनुकरण नहीं किया। जाति के सम्बन्ध की गाथा बिल्कुल अप्रासङ्गिक है, और अष्ट पाहुड की १–२७ वीं गाथा की बिल्कुल विरोधी है कि जाति की आवश्यकता समाज सम्बन्धी कार्यों से है, आत्मज्ञान के लिए नहीं। भगवत कुन्दकुन्द

के बाद कुछ आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि चाण्डाल भी यदि सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो तो पूजनीय है। श्री अमृतचन्द्र द्वारा इन गाथाओं का कुछ भी उल्लेख न होने का कारण यह सिद्ध करता है कि ये पीछे से मिलाई गई हैं जिसकी पुष्टि उपर्युक्त कथन तथा अन्य कारणों से पाई जाती है। इन्हीं गाथाओं से दिगम्बर सम्प्रदायों में मतभेद हुआ, उस समय का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दोनों आम्नायों के विद्वानों में गहरा संघर्ष था। प्रो० उपाध्याय ने इन अतिरिक्त गाथाओं को ठीक माना है, उनका कहना है कि श्री अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं को इसलिए छोड़ दिया था कि वे अत्यन्त दार्शनिक थे, और उनका विचार दोनों आम्नायों में मतभेद फैलाने का न था। उपरोक्त ९ गाथाओं के अतिरिक्त १३ गाथाएं वाद विवाद की नहीं हैं। श्री अमृतचन्द्र का उन्हें छोड़ देने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता, श्री अमृतचन्द्र ने अपनी प्रशस्ति में कई गाथाओं की खूब विवेचना की है और विशेष बातों को कई जगह दुहराया भी है। इसलिए यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने ग्रन्थ को विस्तृत न होने के कारण इन गाथाओं को छोड़ दिया हो, उन्हें अपने विषय पर प्रेम और उत्साह था और विद्वता के दृष्टि-कोण से उनका पद श्री जयसेन से कहीं ऊंचा है, उनकी प्रशस्ति से मालूम होता है कि उन्होंने ग्रन्थ की सारी गाथाए ली हैं। श्री जयसेन ने प्रवचनसार के अतिरिक्त समयसार और पंचास्ति कायसार में भी कुछ विवाद रहित गाथाओं का समावेश किया है, यद्यपि निश्चित रूप से इस बात का सिद्ध करना असम्भव है तथापि ऐसे चिन्ह मिलते हैं कि अमृतचन्द्र के समय तक ये अतिरिक्त गाथाएं ग्रन्थ का भाग न थीं।

जहाँ तक पुरुषों के लिए नग्नत्व और स्त्रियों के लिए सवस्त्रता का प्रश्न है भगवान महावीर के जीवन व्यवहार में स्वयं इसके लिए उदाहरण है। स्त्रीमुक्ति के विषय पर कोई प्राचीन ग्रन्थ निश्चित रूप से इस समस्या को हल नहीं करता, यदि ऐसा कोई ग्रन्थ होता तो तत्वार्थधिगम सूत्र के रचयिता स्वामी उमास्वाति इस विषय की उपेक्षा न करते, दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस प्रश्न को युक्ति युक्त हल नहीं किया बल्कि ऐसा आशय निकाल लिया।

श्री अमृतचन्द्र ने जिन गाथाओं को नहीं लिया है उनमें से प्रवचनसार की ३ अतिरिक्त गाथाएं शब्द प्रति शब्द 'अष्ट पाहुड' में दुहराई गई हैं। यदि ये गाथाएं अष्ट पाहुड का भाग होतीं तो श्री कुन्दकुन्द अथवा अन्य लेखक द्वारा 'प्रवचनसार' में उनका संग्रह किये जाने का कोई विशेष कारण न होता। भगवत् कुंदकुंद ने अपनी रचनाओं में सुन्दर विचारों को भिन्न २ तरीके से दोहराया है, किन्तु ये ११ गाथाए बिलकुल अप्रासङ्गिक है और ३ गाथाओं का शब्द प्रति शब्द दोहराना एक ऐसी ऊंची कोटि के विद्वान् के लिए सम्भव न था। अतः श्री कुंदकुंद

और श्री अमृतचन्द्र की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने का केवल यही मार्ग है कि इन गाथाओं को पीछे से मिला हुआ माना जावे उस समय तक जबतक इसके विरुद्ध दूसरे प्रमाण न मिलें।

सूत्र पाहुड में नग्नता के सम्बन्ध में सारी गाथाएं प्रकरण विरुद्ध हैं प्रो० उपाध्याय ने इस बात पर ध्यान दिया है। उनका कहना है कि पुस्तक के एक संग्रह ग्रंथ होने के कारण ऐसा होना सम्भव है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेद से पहले द्वादशाँग जिस रूप में था श्री कुन्दकुन्द विरचित 'अष्ट पाहुड' उसको संक्षेप में वर्णन करने के लिए मूल ग्रंथ है। इसलिए विवाद को उसमें कोई स्थान नहीं मिल सकता था। भगवत् कुन्दकुन्द ने अपने विचार 'चरित्र पाहुड' तथा अन्य रचनाओं में बिल्कुल स्पष्ट कर दिये हैं। प्रो० थोमस का भी इन समावेषित गाथाओं पर ध्यान गया, इसका कारण उन्होंने समय के तीव्र मतभेद को समझा था। श्री कुंदकुंद ने अपनी रचनाओं में प्रतिपक्षी सम्प्रदाय के साथ किसी विवाद ग्रस्त विषय पर जोर नहीं दिया। वास्तव में उनकी रचनाओं में अन्य धर्म सम्बन्धी व्यवहारों का उल्लेख बहुत ही कम है। इस विषय पर उनके सर्व साधारण विचार 'नियमसार' की ११-१५५ गाथा में स्पष्ट है। जिसमें उन्होंने हर प्रकार के धार्मिक विवाद को निंद्य बतलाया है जैसा कि निम्न गाथा से प्रतीत होता है:—

नाना जीवा नाना कर्म्म नाना विधा भवेल्लब्धिः।
तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः ॥

"विश्व में असंख्य जीव हैं, अगणित कर्म हैं, और लब्धि के अनेक मार्ग हैं, इसलिए अपने तथा दूसरों के धर्म के बीच विवाद त्याज्य है।"

यह समझना न्याय संगत है कि यदि ये गाथाएं पीछे से मिलाई हुई नहीं हैं तो वे श्री कुंदकुंद के दीर्घ लेखन काल के उस पद को प्रकाशित करती हैं जिसको वे उल्लंघन कर चुके थे।

ग्रंथ में गाथा ८-२९ भी अप्राकरणिक और असंगत है, यदि यह ठीक है तो श्री कुंदकुंद को स्त्रियों से घृणा तथा जोर की कड़वाहट थी, किन्तु यह बात सत्य से बहुत दूर प्रतीत होती है और उनकी सारी रचनाओं की विरोधी है। यह मुश्किल से आशा की जा सकती है कि श्री कुन्दकुन्द अपने पूज्य आराध्य देव भगवान महावीर के जीवनकाल में चंदना सती की घटना को भूल गए हों जो घटना एक अभागी कन्या के प्रति मृदुलता तथा कोमलता से प्रख्यात थी।

गाथा ५-७६ तथा ७७ श्रुत सागर सूरि की टीका में नहीं मिलती इसलिए इन गाथाओं की भी श्री कुन्दकुन्द द्वारा रचना संदिग्ध है।

श्री कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के एक त्यागी साधु थे, उन्हें दिगम्बर जैनियों में जैन सिद्धान्त पर सब से प्राचीन तथा सब से अधिक विद्वान होने का पद प्राप्त है। दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेद के मूजिब दोनों आम्नाओं के साधुओं की बाह्य क्रिया में कुछ अन्तर है सिद्धान्त में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। वस्त्र धारण के विषय में जिसमें श्वेताम्बर साधु को वस्त्र धारण करने की आज्ञा है। दिगम्बर को नहीं। इतना मतभेद नहीं है जितना सामान्यतया समझा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि भगवान महावीर ने अपने जीवन-काल में दिगम्बरत्व ग्रहण किया था, और स्वयं श्वेताम्बरों ने साधुओं की एक विशेष श्रेणी के नग्नता की व्यवस्था भी की है। इस कारण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में श्री कुन्दकुन्द की रचनाओं का विशेष आदर है और जहाँ तक साधारण जीवन का सम्बन्ध है वे श्री उमास्वामी रचितं तत्वार्थाधिगमको प्रमाण शास्त्र में उपयोग करते हैं। कारण यह है कि १२ वाँ अंग जिसमें मूल सिद्धांत उपदिष्ट और विभक्त था और १४ पूर्व लुप्त प्राय हो गए थे। पहले ११ अङ्गों में सिद्धान्त नियमानुसार विभक्त नहीं हैं उनमें कहीं २ थोड़ा २ कथात्मक रूप से दिया गया है। सम्भवत: १२ वें अंग में भी ऐसा ही हो और ग्रंथों में विस्तार से वर्णन हो, जिससे मूल रूप में विषय गूढ़ होने के कारण उनका अध्ययन कठिन हो गया हो। इस १२ वें अंग का नाम 'दृष्टिवाद' संकेत करता है कि भगवान महावीर के आत्मानुभव पर इसकी नींव रखी गई हो।

श्री कुन्दकुन्द से पहले श्री भद्रबाहु प्रथम ने अङ्ग रचना को स्वीकार नहीं किया था, और प्राचीन कथाओं के अनुसार श्री भद्रबाहु प्रथम के समय दोनों सम्प्रदाओं में मतभेद शुरू हो गया था, जिसके मुख्यतया निम्न कारण थे:—

१ बिहार में घोर अकाल पड़ने पर श्री भद्रबाहु का दक्षिण भारत में जाना तथा उनकी अनुपस्थिति में कुछ मुनियों का दिनचर्य्या के घोर नियंत्रण को को ढीला करना।

२ उनकी अनुपस्थिति में जो श्वेताम्बरों द्वारा अङ्ग रचना की गई थी उसका उनको न मानना।

श्री भद्रबाहु के उत्तराधिकारियों में कोई भी ऐसा न था जो सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान को समझने का दावा करता हो। श्रुत का ज्ञान प्रतिवर्ष कम होता गया, और सिद्धाँतों के सर्वथा लुप्त हो जाने का भय उपस्थित था। ऐसे कठिन समय में भगवत कुन्दकुन्द कार्य क्षेत्र में उत्तीर्ण हुए, उनमें लोगों ने पवित्रता, सत्य, बुद्धि, उत्साह और पौरुष देखा और उस समय के लोगों ने धर्म सिद्धान्तों को विस्मृति से बचाने के लिए उनका अभिनन्दन तथा आह्वान किया। इसी कारण भगवत् कुन्दकुन्द का नाम भगवान् महावीर तथा उनके शिष्य श्री गौतम के साथ लिया

जाने लगा, और उसकी स्मृति में आज भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक कार्य उस मंगलाचरण को प्रारम्भ करके किए जाते हैं जो पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर है। यह अद्वितीय सम्मान केवल श्री कुन्दकुन्द को भगवान् महावीर के ५०० वर्ष मोक्ष जाने के बाद प्राप्त हुआ।

ऊपर श्री उमास्वाति का वर्णन आया है जो श्री कुन्दकुन्द के शिष्य थे, उनकी रचना 'तत्वार्थ सूत्र' भगवत् की रचनाओं पर निर्धारित थी जिस रचना को जैन विद्वान बड़े गौरव और सम्मान द्वारा देखते हैं, किन्तु इसका व्यवहार विवादग्रस्त विषयों को निश्चित करने के लिए प्रमाण तथा सूत्रों के आधार पर सिद्धांत की व्याख्या करना है। इसके विपरीत श्री कुन्दकुन्द एक उत्साही लेखक, साधु बुद्धिमान् कवि, उपदेशक तथा सभी कुछ थे। उनकी रचनाएं केवल शिक्षा तक सीमित न थीं बल्कि पाठकों में श्रद्धा, उत्साह और उन्नति पैदा करके उनको ऊपर उठाती थीं। श्री उमास्वाति की रचना एक दार्शनिक तथा सिद्धान्त को एक वैज्ञानिक ढंग से पेश करती है।

विद्वानों में भगवत् कुन्दकुन्द के समय के विषय में काफी मतभेद है। उनका समय ईसा की ३ शताब्दी से लेकर ५ वीं शताब्दी के बाद तक बतलाया जाता है। प्रो० उपाध्याय ने भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों की सम्मति को समक्ष रखकर तथा तमाम उपलब्ध सामग्री को आलोचनात्मक दृष्टि से अनुसंधान करके भगवत् कुंदकुंद का समय ईसा के समय के लगभग माना है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बरों के पास जो भगवान महावीर के उत्तराधिकारियों की पट्टावली हैं जिसमें श्री कुन्दकुन्द तक तथा उनके पश्चात् होने वाल उत्तराधिकारियों का वर्णन है, वे एक विशेष प्रमाण हैं। प्रो० उपाध्याय इन पट्टावलियों को ही केवल प्रमाणिक नहीं समझते, लेकिन प्रो० चक्रवर्ती अपने पंचास्तिकाय के संस्करण में उन पट्टावलियों को जिस रूप में उन्हें एक यूरोपियन विद्वान् द्वारा जाँच करने के बाद रखा गया है, ठीक मानते हैं। इन पट्टावलियों के आधार पर श्री कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष हुआ था और ४४ वर्ष की आयु में अर्थात ईसा से ९ वर्ष पूर्व उन्होंने आचार्य पद ग्रहण किया था। उन्होंने ५० वर्ष तक अर्थात् ईसा के ४२ वर्ष बाद तक इस पद को सुशोभित किया। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में उनके दीर्घ जीवन का महत् भाग व्यतीत हुआ। इससे पट्टावलियों की विशेष पुष्टता और उनका ठीक होना सिद्ध होता है, जबतक और संतोषजनक प्रमाणों के आधार पर उनका दोबारा जांचकर उनका संशोधन न किया जावे, साधारण मनुष्यों के लिए पट्टावलियों का उसी प्रकार से मानना उचित होगा।

अब 'बोध पाहुड' की अन्तिम दो गाथा जो इसी विषय से सम्बन्धित हैं उन पर विचार किया जाता है। ६१ वीं गाथा श्री भद्रबाहु के एक शिष्य के सम्बन्ध

में है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित है कि उनका आशय कौन से भद्रबाहु से है, और क्या उल्लिखित शिष्य कुन्दकुंद ही थे। ६२ वीं गाथा श्री भद्रबाहु को श्रुतज्ञानी बतलाती है जिनको प्रो० उपाध्याय तथा कुछ अन्य लेखकों ने श्रुत केवली समान माना है। श्री भद्रबाहु अन्तिम श्रुत केवली थे, इसलिये यह दोनों गाथाएं उन्हीं के सम्बन्ध में मानी गई हैं। अधिकतर लोगों का मत है कि श्री कुंदकुंद ने अपने को श्री भद्रबाहु का शिष्य माना है किन्तु श्री भद्रबाहु का और श्री कुंदकुंद का ३०० वर्ष का अन्तर था। प्रो० उपाध्याय मानते हैं कि शिष्य शब्द का अर्थ शारीरिक सम्बन्ध नहीं, बल्कि आत्मिक सम्बन्ध मानना चाहिये। यद्यपि गुरू अथवा आचार्य शब्द ऐसे अर्थ में प्रयुक्त होता लेकिन रूढ़ि पर चलने वाले जैन पण्डितों ने उसका अर्थ शिष्य शब्द का शारीरिक सम्बन्ध से माना है। कुछ लोग जो गाथाओं को भद्रबाहु (प्रथम) के सम्बन्ध में समझते हैं उनका मत है कि उल्लिखित शिष्य श्री विशाखाचार्य्य हैं, जिनसे शिष्य परम्परा के द्वारा श्री कुन्दकुन्द ने ज्ञान प्राप्त किया। यह गाथाओं का बिल्कुल बनावटी अर्थ बन जाता है और कोई कारण समझ में नहीं आता कि भगवत् कुन्दकुन्द ने इन्हीं दो नामों का उल्लेख क्यों किया जब कि उनसे पहले धर्म और विद्या में निपुण और भी कई आचार्य हो चुके हैं।

इस विषय में ५२ वीं गाथा जिसका पहले भी वर्णन आ चुका है।

इससे स्पष्ट पता लगता है कि शब्द श्रुतज्ञानी से श्री कुंदकंद का आशय उस व्यक्ति से है जिसने सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया हो, और 'प्रवचन सार' की गाथा ३३-३४ अध्याय १ में श्रुत केवली को विशेष महत्ता देती है, और श्रुतकेवली उसको माना है जिसको श्रुत अथवा सिद्धान्त ग्रन्थों द्वारा आत्मानुभव प्राप्त हुआ हो। श्री अमृतचन्द्र अपनी प्रशस्ति में लिखते हैं कि केवली और श्रुत केवली इसके अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है कि जो अनुभव श्रुत केवली को ग्रंथों द्वारा प्राप्त होता है वह अनुभव केवली को नैसर्गिक रूप से, इसलिए बोधपाहुड की अन्तिम गाथाएं भद्रबाहु द्वितीय से सम्बन्ध रखती हैं। जिनसे पट्टावलियों के अनुसार श्री कुन्दकुन्द ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की।

किसी न किसी रूप से पूर्ण सिद्धान्त श्री कुन्दकुन्द और श्री भद्रबाहु के समय तक अक्षुण्ण रहे होंगे। श्री भद्रबाहु उस समय के एक आचार्य्य थे। उनको यदि सम्पूर्ण नहीं तो विशेष ज्ञान अवश्य था। इससे दोनों गाथाओं का अर्थ ठीक बन जाता है और भगवान महावीर के उत्तराधिकारियों में श्री कुन्दकुन्द का स्थान निश्चित हो जाता है।

यद्यपि भगवत् कुन्दकुन्द एक मूल रचयिता थे लेकिन कहीं भी उन्होंने अपने आपको नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादक नहीं बतलाया, और न ही अन्य

विद्वानों का ऐसा मत है। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो जैन धर्म में एक नवीन सम्प्रदाय जन्म ले लेता। 'जिन' भगवान् द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जनता के समक्ष सचाई के साथ उपदिष्ट करने का दावा "जिन" शब्द से उनका अभिप्राय भगवान महावीर से हो सकता है। जिनकी उन्होंने विशेष वंदना की है। जैन धर्म की उत्पत्ति के प्रश्न पर यहाँ विचार करना ठीक न होगा इतना कह देना उचित होगा कि जैन तथा हिन्दू परम्परा के अनुसार जैन धर्म के प्रवर्तक श्री ऋषभदेव थे, जो इस अवसर्प्पणी काल में जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर थे और हिन्दुओं के २४ अवतारों में ८ वें अवतार थे, उनका समय इतिहास से पहले का है जिसका निश्चय करना मुश्किल है। भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ हुए। विद्वानों ने भगवान् पार्श्वनाथ का होना स्वतन्त्र प्रमाणों द्वारा स्वीकार किया है, किन्तु उनके विषय में इतनी जाँच की कि उनके उपदेश का सार केवल ४ प्रतिज्ञाओं (वृतों) में बद्ध था। उसी उपदेश को भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य्य व्रत को पृथक् वर्णन करके ५ व्रतों में उपदिष्ट किया था। इस व्रत का समावेश भगवान् पार्श्वनाथ के समय अपरिग्रह व्रत में समझा जाता था। वर्तमान रूप में सिद्धान्त पूर्ण रूप से भगवान् महावीर स्वामी का उपदेश मानना चाहिए:— प्रस्तुत पुस्तक में जैन धर्म का कई दृष्टिकोणों से उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उनके समय में सिद्धान्त पूर्ण रूप से विद्यमान था।

श्री कुन्दकुन्द ने अनेक ग्रन्थ रचनाएं कीं। छोटी और बड़ी सब मिलाकर उनके ८४ ग्रन्थ बतलाए जाते हैं, वे ९५ वर्ष जीवित रहे। उनका लेखनकाल ५० वर्ष या इससे अधिक होता है। यद्यपि उनकी रचनाओं का क्रम प्रकट करने वाला कोई इतिहास नहीं है तथापि 'अष्ट पाहुड' विचार और ढंग दोनों प्रकार से उनकी प्रधान रचनाओं में सर्व प्रथम मालूम होता है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और पंचास्तिकायसार जो प्रौढ़ावस्था की प्रतीत होती हैं, उनका ढंग ठोस है विचार अधिक ठोस और गंभीर दृष्टिकोण अधिक विस्तृत है, किन्तु अष्टपाहुड मूल सिद्धान्त को असली रूप में रखने का अधिक मेल खाता है।

पाठकों की अष्टपाहुड की स्वाध्याय करने के लिये और प्रासंगिक गाथाओं का ठीक अर्थ समझने के लिए जैनियों का सृष्टिवाद और जैन मीमाँसा का साधारण ज्ञान आवश्यक है। ग्रन्थ में शिक्षा रूप में कुछ लोकाचार का भी विवरण है। प्रस्तुत पुस्तक का लोकाचार सम्बन्धी विषय नहीं है, मूल से ही उसकी सामान्य उपमा समझ में आ जाती है, और अनुवाद में भी उनका सक्षेप से संकेत है। जैन धर्म लोक का आकार उस खड़े हुए मनुष्य वत् मानता है जिसकी टांगें फैली हुई और हाथ कूल्हों पर हों, इसका मध्य भाग दृष्टिगोचर संसार है जिसमें भूमि और मध्य लोक है, उसके ऊपर १६ स्वर्गों का क्रम है, सब से ऊपर सिद्ध आत्माओं

का निवास स्थान मोक्ष है। इस विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिये कि मुक्त आत्माओं की यह स्थिति व्यवहारनय से विवक्षित है, निश्चयनय क्या मानता है यह बात आगे बतलाई जावेगी।

पृथ्वी के नीचे क्रमशः ७ नरक हैं, सब से नीचे निगोद है। निगोद जीवों की मौलिक अथवा प्रारम्भिक अवस्था का भंडार है। पृथ्वी पर भी निगोद राशि के जीव दिखाई पड़ते हैं। वे बहुत सूक्ष्म और दृष्टि अगोचर हैं, उनकी उत्पत्ति का परिणाम दूध से दही का बनना, मद्य से खमीर, आचार मुरब्बों की स्थिति, मांस तथा शाकादि का सड़ना है। उनको आधुनिक विज्ञान में Bacteria की समानता दी जा सकती है।

पृथ्वी और नरकों के बीच में भवन वासी और व्यंतर जाति के देव निवास करते हैं।

पृथ्वी चौरस और गोल है और उसमें कुछ महाद्वीप हैं जिनके बीच जम्बू द्वीप गोल आकृति वाला है, उसके चारों ओर अनेक समुद्र और द्वीप हैं। जम्बू द्वीप के मध्य सुमेरु पर्वत पर देवता निवास करते हैं। जम्बू द्वीप में अनेक क्षेत्र हैं। जिसका भरत क्षेत्र नाम का भाग यह भारतवर्ष है। जम्बू द्वीप के अन्य क्षेत्रों में विद्याधर निवास करते हैं, उनको वायुगामिनी विद्या सिद्ध होती है उनका गमन आकाश में है, इसलिए उनको खेचर भी कहा जाता है। अन्य द्वीपों में नीच जाति के जीवों का आवास है जो कुरूप और बेडौल हैं।

सूर्य्य तथा तारागण वास्तव में मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं, उनकी प्रतीति एक भ्रम है कुछ प्राय द्वीपों में सूर्य्य और चन्द्रमा की संख्या दो २ हैं, कुछ में ४-४ हैं। उत्तरी ध्रुव प्रदेश के किनारे आस पास या उससे कुछ डिग्री नीचे खड़े हुए मनुष्य को जो दृश्य दिखलाई देता है, उससे वह भी ऐसा ही नतीजा निकालता है।

स्वर्गों के निवासियों की देवसंज्ञा है। अर्हन्त और सिद्धों की भी देव संज्ञा है। स्वर्ग निवासी देव अर्हन्त और सिद्धों के समान पूजनीक नहीं हैं, वे अपने जीवन की निश्चित अवधि के बाद पुनः मनुष्य गति में जन्म लेते हैं, उनमें मनुष्यों की अपेक्षा अधिक इंद्रिय, ज्ञान और आनन्द का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण होता है। किन्तु वे यत्न करने पर भी मुक्ति पाने के अधिकारी नहीं हैं, जो मुक्तिधाम आनन्द का सब से श्रेष्ठ रूप है और जिसकी प्राप्ति केवल मनुष्य पर्याय से ही हो सकती है।

नारकी जीव भी नरक आयु पूर्ण करने पर पुनः जन्म लेते हैं, यद्यपि उन्हें भयानक यंत्रणाएं सहन करनी पड़ती हैं। उनका स्थान वनस्पति और पशुओं से ऊंचा है और कुछ नारकियों का तो साधारण मनुष्यों से भी। नारकी मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सकते हैं और देवों की भाँति मनुष्य पर्याय पाकर मुक्ति लाभ भी

कर सकते हैं।

पुस्तक में देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच, चार गतियों का कई स्थान पर उल्लेख है।

लोकाकाश ६ द्रव्यों से परिपूर्ण है १ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश, ६ काल। लोकाकाश के ऊपर अलोकाकाश है, आदि के ५ द्रव्य जिनको अस्तिकाय भी बोलते हैं, उनकी सत्ता लम्बाई, चौड़ाई, विस्तार आदि के परिमाण से है, काल एक प्रदेशी है, द्रव्य का लक्षण सत् है अर्थात् छहों द्रव्य सत्ता रूप से विद्यमान हैं।

जीव शब्द संसारी जीव और मुक्त जीव दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। सामान्यतया इसका व्यवहार कर्मयुक्त आत्मा से होता है। संसारी जीव ६ कार्यों में विभक्त हैं:—१ पृथ्वी, २ जल, ३ वायु, ४ अग्नि (ये ४ भूत तत्व) और ५ वनस्पति ये स्थावर कहलाते हैं और छटे त्रस जीव जिनमें मनुष्य, द्वीन्द्रियादिक कीड़े, मकोड़े, पशु, देव, और नारकी।

इससे पता चलता है कि जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी पर कोई भी पुद्गल बिना जीव के सम्बन्ध के नहीं है, किन्तु मृत पशु, कटा हुआ वृक्ष, गरम वायु या जल, बुझी हुई अग्नि, खदान से निकला हुआ पत्थर आदि निर्जीव पुद्गल हैं। कुछ विद्वान् जीवन सम्बन्धी इन विचारों में जैन धर्म के (animistic) होने की एक झलक पाते हैं। जो भी हो, जैन धर्म में अंध विश्वास अथवा लोक मूढ़ता को स्थान नहीं है और सारा सिद्धान्त एक दार्शनिक कसौटी पर कसा हुआ है। जो लोग जैन धर्म को एक fantastic (बेहूदा) धम मानते हैं उनको इस बात पर विचारना चाहिए कि विज्ञान के अनुसार पृथ्वी एक अग्नि का गोला थी जिससे अन्य पदार्थों की उत्पत्ति हुई, यदि जीव उसमें किसी भी रूप में सन्निहित नहीं था तो आया कहाँ से ?

धर्म, अधर्म, आकाश और काल चारों उदासीन द्रव्य हैं। उनसे प्रकृति में phenomena अर्थात् परिणामन होता है। ये द्रव्य इस परिणामन के सहायक नहीं केवल निमित्त कारण हैं। धर्म और अधर्म का विचार जैनधर्म का अपना ही है। अब पुस्तक के कुछ पारिभाषिक शब्दों पर विचार किया जावेगा:—

जीव शब्द का वर्णन पहले कया जा चुका है। आत्मन् शब्द का अभिप्राय शुद्ध आत्मा से है। जहाँ तक क्रियात्मक संसार का सम्बन्ध है, आत्मा अशुद्ध अवस्था में ही पाई जाती है और उसका पृथक्करण विचार मात्र है, आत्मा के ३ भेद हैं:—

१ बहिरात्मा—अर्थात् जिसकी शरीरादिक पुद्गल पर्यायों में आत्मबुद्धि हो।
२ अन्तरात्मा—अर्थात् जो अपनी आत्मा को शरीरादिक पुद्गल की पर्यायों से

पृथक् समझता हो।

३ परमात्मा—इसका व्यवहार मुक्त अर्थात् कर्म रहित आत्मा से है।

एक ही जीव के कभी बहिरात्म और कभी अन्तरात्म भाव होते हैं। परमात्मावस्था में जीव तथा आत्मा एक ही अर्थ के द्योतक हैं। (अध्याय ६ गाथा ४-५-६)

भगवत् कुन्दकुन्द के दूसरे ग्रंथों में 'समय' शब्द भी आत्मा के लिये प्रयुक्त किया गया है। इसका प्रयोग (universal) विश्वदृष्टि से किया गया मालूम होता है, यद्यपि जैनधर्म में एक आत्मा से भिन्न कोई ब्रह्म अवस्था नहीं मानी गई।

जैनधर्म "अनेकान्तवाद" नाम से भी प्रख्यात है। इसका अभिप्राय है कि सत्य के अनेक दृष्टिकोण हैं और इसको अनेक दृष्टिकोण से देखना चाहिये, इसको नय विवक्षा भी कहते हैं, सामान्यतया व्यवहार और निश्चय इन्हीं २ दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है, इनको द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण भी कहा जाता है। निश्चय के भी शुद्धनिश्चय और अशुद्ध निश्चय दो भेद हैं। शुद्ध निश्चय का अर्थ सम्पूर्ण सत्यता अथवा पूर्ण होना है (२-६) इसे परमार्थिक नय भी कहते हैं।

इस सिद्धान्त से स्याद्वाद का सिद्धान्त सन्निहित है, जो ज्ञेय की भिन्न अवस्थाओं को नाना दृष्टिकोणों से दर्शाता है, यद्यपि श्री कुन्दकुन्द ने इस सप्त-भंगीनय का वर्णन किया है, किन्तु उन्होंने कहीं पर इसका प्रयोग नहीं किया।

उपयोग शब्द (५-१४८) बार बार उस रूप में प्रयुक्त नहीं है जैसा कि श्री कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों, में उसका अनुवाद करना कठिन है। प्रोफेसर थोमस response शब्द को उसके समान मानते हैं उस समय जब इसका प्रयोग जीवित प्राणियों के लिए हो, अन्य अवस्थाओं में श्री कुन्दकुन्द ही स्वयं इसे ज्ञान और दर्शन का समानार्थक मानते हैं। कुछ अवसरों पर साधारण शब्द ken उसके अभि-प्राय को बोध करा देगा। ५-१४८ गाथा में 'उपयोग' शब्द का दर्शन और ज्ञान के साथ उल्लेख है और वहाँ पर उसका अनुवाद सावधानता से किया गया है।

'निर्वाण' शब्द आत्मा की मुक्तावस्था के लिये प्रयुक्त है, मोक्ष मुक्ति को कहते हैं। सिद्ध एक मुक्त आत्मा को, अरहंत या 'जिन' शब्द अनन्त चतुष्टय युक्त आत्मा की उस अवस्था को उद्योत करता है जो मुक्ति से पहले होती है, उस अवस्था में केवल ४ अघातिया कर्म (आयु, नाम, वेदनी और गोत्र) अवशेष रहकर अन्य सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, ये अघातिया कर्म भी सत्ता मात्र में रहते हैं। अरहंतों की उपासना सिद्धों से पहले की जाती है। चौबीस तीर्थङ्कर वे नियमित अरहत थे, जिन्होंने धर्म का प्रचार करने में विशेष भाग लिया था। 'साधु', 'श्रमण' अथवा 'मुनि' शब्द एक पवित्र धार्मिक और विरक्त सन्यासी के लिये प्रयुक्त होते हैं। शिक्षा देने वाले गुरु को 'उपाध्याय' तथा मुनि संघ

के प्रधान को 'आचार्य' कहते हैं। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों को पंचपरमेष्ठी कहते हैं। (६-१०४)

धर्म की रक्षा के अर्थ देह का परित्यागन 'सल्लेखना' नाम का व्रत है जिसका एक स्वीकृत रूप है। जिस समय एक धार्मिक व्यक्ति किन्हीं खास अवस्थाओं में धर्म के आचरण को ठीक न पाल सके, उस समय ४ आराधना को ग्रहण कर शरीर से ममत्व हटा कर आत्मा के स्वभाव ज्ञान और दर्शन में ध्यान लगाकर शरीर छोड़ दे। (अध्याय ३ गाथा २५-२६)

ग्रंथ में ५ प्रकार के ज्ञान का उल्लेख है परन्तु विस्तृत वर्णन नहीं है (५-७) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। प्रथम दो परोक्ष अथवा इन्द्रिय जनित ज्ञान हैं, और अन्त के ३ प्रत्यक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान हैं। परोक्ष ज्ञान केवल क्रियात्मक (व्यवहारिक) बातों से सम्बन्धित है, इसका सम्बन्ध वस्तु अपेक्षा से है। ज्ञान में द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से परिवर्तन होता रहता है। प्रत्यक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान से सत्व का बोध होता है। जिस पथ पर इस ज्ञान की प्राप्ति होती है वहाँ ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय अथवा ज्ञान के रूपों में कोई भेद नहीं रहता। केवल ज्ञान से परम ब्रह्म की प्रतीति होती है (अ० ५ गाथा ५९, ६३) से यह पता चलेगा कि वह परमब्रह्म अनिर्वचनीय है और उसका शब्द द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। यह परम ब्रह्म न्याय के द्वारा भी अध्ययन का विषय नहीं बन सकता, इसलिए परम ब्रह्म को जानने के लिए जैन धर्म ने एक निराला तरीका निकाला। इसने पहले संसार सम्बन्धी नियमों का अध्ययन किया और इन्हीं नियमों द्वारा आत्म ज्ञान को जाना। पुस्तक में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ४ प्रकार के परिवर्तन का उल्लेख है, जो वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं।

द्रव्य में उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य, ये तीन गुण सदैव विद्यमान हैं। जो गुण द्रव्य में तन्मय होते हैं वे प्रत्येक परिस्थिति में उसमें विद्यमान रहते है। किन्तु जो स्थिति तथा प्रगटता के भाव पर निर्भर रहते हैं, वे कालानुसार बदलते रहते हैं। आत्मा पर यह सिद्धान्त लागू करने पर यह अवस्था होगी कि जो गुण आत्मा में स्वाभाविक होते हैं वे सदैव वर्तमान रहते हैं, पर अन्य गुण जो जीव की एक विशेष गति या स्थान में प्रकट होते हैं वे अ। तथा जा सकते हैं। जीव आदि (शुरु) से ही उन गुणों को धारण किए रहता है जो मुक्तावस्था में उसमें होते हैं और इन गुणों का पूर्ण रूप से प्रकट न होना किसी बाह्य कारण (कर्म) से सम्बन्ध रखता है। (अ० ५-गाथा १४९, १५०)

एक बात जिसका यद्यपि पुस्तक में वर्णन नहीं है, उसका यहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक है। केवल ज्ञान को सिर्फ व्यवहारिक दृष्टि कोण से सर्वज्ञता समझा जाता है। निश्चय की दृष्टिकोण से इसका अर्थ केवल आत्मज्ञान है। इस विषय पर श्री कुन्दकुन्द के "नियम सार" ग्रंथ में विस्तार से विचार किया गया है। ११ वें

(आगे पृष्ठ २१ पर देखिये)

प्रकरण के अन्तिम भाग में परिवर्तित हो गई मालूम होती है।

'अष्टपाहुड' में ८ प्रकरण हैं, इसका विषय मुक्ति प्राप्ति करने के दृष्टिकोण से जीवन का क्रम निश्चित करना है। जैनधर्म ईश्वर को सृष्टि रचयिता तथा उद्धारक नहीं मानता। आत्मा अपने भाग्य का स्वयं विधाता है, किन्तु जिन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है उनकी वन्दना करता है। सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति से (जिन्हें रत्नत्रय भी बोलते हैं) मुक्ति होती है। प्रथम प्रकरण में दर्शन तथा तीसरे म चारित्र का वर्णन है। सातवें और आठवें प्रकरण का सम्बन्ध भी चारित्र से ही है। दूसरे, चौथे और पाँचवें प्रकरण का विषय प्रायः ज्ञान ही है। छटे में अन्तिम फल अथवा मुक्ति का वर्णन है। तीनों रत्न एक दूसरे से बिल्कुल असम्बन्ध नहीं हैं। दर्शन ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति और वृद्धि साथ ही साथ होती है। ये एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। (अ० १-गा० १५, १६ तथा अ० ३ गाथा १, २) प्रत्येक प्रकरण में बहुत सा विषय एकसा है और उसमें आवृत्ति तथा पुनरावृत्ति का संयोग है।

आत्मोन्नति के लिए सबसे प्रथम सम्यक्दर्शन तथा सत्य श्रद्धान आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि कोण से सम्यक् दर्शन की परिभाषा जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट सात तत्वों की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखना है। निश्चय दृष्टिकोण से इसका अर्थ आत्मानुभव है। इसलिए जैन धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त आत्म विचार है, बाकी सब धर्म सिद्धान्त इसी के पीछे हैं। यह बात सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रकट नहीं करती, परन्तु इसके तार्किक प्रदर्शन को सुगम बनाती है। एक तार्किक यह तर्क कर सकता है कि यह तो प्रश्न का उत्तर पहले से ही निश्चित कर लेना है। पर, जैसा कि पहले ही कहा है कि यह प्रश्न वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव का है, जो भाषा और तर्क के अतीत है। तर्क शास्त्र इस विषय में एक निश्चित सीमा तक ही सम्बन्ध रखता है जो अपेक्षित क्षेत्र में है, इसी कारण एक महान् विचारक ने कहा है कि जैन तर्क स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद (monism) की ओर संकेत करता है परन्तु उस तक पहुंचता नहीं, इससे आगे तर्क असम्भव है परम ब्रह्म अनिवचनीय और केवल ज्ञान गोचर है।

आत्म स्वरूप का वर्णन अष्ट पाहुड में भरा पड़ा है और प्रत्येक प्रकरण में इसका उल्लेख है। आत्मा, अनात्मा (पर द्रव्य अथवा शरीर) से भिन्न है। पर द्रव्य में शरीर अथवा इंद्रिय भी संयुक्त है। यह स्वतन्त्र तथा अविभाज्य है। यह अपने भाव स्वयं ही प्रगट कर सकती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब इसमें सन्निहित होते हैं। साम्यभाव इसमें स्वाभाविक होता है। सारी कषाय भावनाएं और प्रत्येक प्रकार की क्रिया चाहे वे अच्छी हों या बुरी, अथवा उदासीन इससे अपरिचित होती हैं। जो भी अन्य रूप आत्मा में प्रगट होते हैं वे कर्म के रूप में पर-

द्रव्य के साथ इसका सम्बन्ध होने के कारण होते हैं। यह केवल कर्मों की ग्रंथि है जो इसके पूर्ण प्रकाश (उन्नति) में बाधक होती है। जब आत्मा कर्म रहित हो जाती है तब यह शुद्ध उपयोग, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य-मय हो जाती है। यह सिद्ध अथवा केवली की अवस्था होती है। अर्थात मुक्तात्मा जिसे 'शिव', 'ब्रह्म', 'विष्णु' और 'बुद्ध' भी कहते हैं।

आत्मानुभव के बिना ज्ञान और तपश्चरण नरक की ओर ले जा सकते हैं। (अ० २ गा० १५-१६, अ० ३ गा० १८-१९-३८-४३, अ० ४ गा० १२-१३-४०, अ० ५ गा० ३१-५१-५८-६२-६४-७७-१५१, अ० ६ गा० ३५-५१-८१-१०४-१०५, अ० ८ गा० ११-२७)।

इस पुस्तक में आत्मा का एक गुण अर्थात् उसका सर्व व्यापक होना पूर्ण रूप से नहीं दर्शाया गया है, यद्यपि उसका अनुमान उपरोक्त गाथाओं से हो सकता है और उसका संकेत अ० ५, गा० १५१ में भी है। यह बात श्री कुन्दकुन्द की अन्य कृतियों में स्पष्ट रूप से दर्शाई गई है जैसे प्रवचनसार गाथा २३, २५ तथा पंचास्तिकाय सार गाथा ३१, ३२। प्रवचनसार में आत्मा को ज्ञानमय दर्शाया गया है और इसलिए ज्ञान द्वारा ज्ञान के समान विस्तृत बताया गया है। यह दृष्टिकोण बाद के उन जैन विद्वानों द्वारा भी स्वीकृत था जिनके ग्रंथ प्रमाणिक माने गए हैं। उदाहरण के लिये 'परमात्म प्रकाश' की ५०, ५४ वीं गाथा में यह वर्णन है कि आत्मा वास्तव में ज्ञानमय है अतएव सर्वव्यापक है। क्योंकि परमात्मा में इन्द्रिय ज्ञान नहीं है अथवा इसको जड या निर्जीव भी कहते हैं और क्योंकि परमात्मा कर्म रहित होता है अतः इसे शून्य भी कहते हैं। जब आत्मा की अपना शरीर छोड़ने से पहले कर्म क्रिया नष्ट हो जाती है उस समय आत्मा का आकार तत्शरीर प्रमाण हो जाता है। यह अन्तिम दृष्टिकोण है जो अ० ५ गा० १४८ में वर्णित है, जिससे संसारिक आत्मा के गुणों का ज्ञान होता है।

सम्यक् दर्शन की सामान्य व्याख्या पहले की जा चुकी है। प्रथम प्रकरण में दर्शन की महत्ता तथा विशेषता का अनेक प्रकार से वर्णन है। क्योंकि निश्चय के दृष्टि कोण से दर्शन का अर्थ आत्मानुभव लगाया गया है, इसलिए सम्यक् ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान में भेद करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ी। यह तृतीय प्रकरण में वर्णित है, जिसमें इस बात को स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार दर्शन चारित्र में प्रतिबिम्बित हो जाता है। तृतीय प्रकरण की ७ वीं गाथा सम्यक् दर्शन के ८ अंगों का वर्णन करती है। अथवा (१) निःशंकित–शंका न करना, (२) निःकाँक्षित–विषय जन्य सुख की कांक्षा न करना, (३) निर्विचिकित्सित–ग्लानि न करना, (४) अमूढ दृष्टि–मिथ्या मार्ग से सहमत न होना, (५) उपगूहन–निंदा को दूर करना, (६) स्थितिकरण–धर्मच्युत प्राणियों को धर्म में स्थिर करना, (७) वात्सल्य–

यथा योग्य आदर करना, (८) प्रभावना-धर्म का माहात्म्य प्रगट करना।

जैन धर्म का विशेष वर्णन करते हुए अ० ३ गा० ११ तथा १२ में लिखा है कि इसके अनुयायियों में वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, सुदान, पररक्षा, और सरलता होनी चाहिये। अ० ६ गाथा ९० में लिखा है कि अहिंसा धर्म, निर्दोष देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु में श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से आत्म श्रद्धान होता है। आचरण मनोवृत्ति के आधीन है और सारा ५ वाँ अध्याय इस बात को पुष्ट करता है कि ज्ञान और चारित्र चाहे कितना भी अधिक और निर्दोष हो, शुद्ध भावों के बिना सब व्यर्थ है। शुद्ध भावों में प्रमाद, अज्ञान, तथा मूढता को बिल्कुल स्थान नहीं है। आत्मा को शरीर तथा इन्द्रिय की सहायता के बिना स्वतंत्रता से कार्य करने का अभ्यास होना चाहिए। आत्मिक उन्नति में कुल तथा जाति की कोई गणना नहीं है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा में सन्निहित होते हैं। दर्शन का अर्थ आत्मानुभव है सम्यग्ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने को कहते हैं। सम्यक् चारित्र आत्मा की शुद्धता की पूर्ति का नाम है दर्शन-ज्ञान और चारित्र एक दूसरे के पोषक हैं। (अ० ३ गा० १८) (अ० ४ गा० ८३) बिना दर्शन के चारित्र व्यर्थ है (अ० ३ गा० १०) शुद्ध चारित्र के लिए ज्ञान के साथ स्पष्ट और शुद्ध विचार भी आवश्यक हैं (अ० ३ गा० ४१) शुद्ध आचरण के बिना ज्ञान तथा आत्म संयम के बिना तप निष्फल है (अ० ८ गा० ३७) अरहंत भक्ति, अनुभव-द्वारा शुद्ध दर्शन, इन्द्रिय विषय से विरक्ति और शील ये सब सम्यग्ज्ञान के ही रूप हैं (अ० ८ गा० ४०) जीवित प्राणियों पर दया, इन्द्रिय दमन, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और तप ये शील का परिवार है (८-१९)

नियंत्रण के लिए निश्चित व्रत आवश्यक हैं। जिनकी कठिनता मनुष्य की सहन शक्ति के अनुसार होनी चाहिये (६-४३) गृहस्थी और साधु के लिए भिन्न भिन्न प्रतिज्ञाएं उपदिष्ट हैं (अ० ७ गा० २४, २५, २६) नियमों का पालन ग्रहस्थों के लिये भी काफी कठिन है किन्तु मुनियों के लिए तो इसका रूप वास्तव में शरीर की चिन्ता या विचार का पूर्ण त्याग ही है।

जैन धर्म को ~~कुछ लोग~~ pessimistic अथवा उदासीन और संसार को केवल दुःख रूप कहने वाला धर्म कहते हैं, किन्तु इन शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ में वे ~~साधारणतया~~ प्रयुक्त करते हैं, जैन सिद्धान्त के लिए लागू नहीं है। जैन धर्म में जीवन को बला समझकर त्यागने और मृत्यु के अनन्तर प्रसन्नता पूर्वक जीवन की सत्ता का कोई विचार नहीं है। जैन धर्म जिस आनन्द को मानता है वह परमानन्द इसे इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है। परिग्रह का त्याग परमार्थ समझ कर नहीं किया जाता बल्कि इसलिए कि सांसारिक परिग्रह जीवन

के वास्तविक अनुकरण में मनुष्य का ध्यान भंग कर देते हैं (अ० ५ गा० ३ तथा अ० ६ गा० २९, ३२) तप केवल नियन्त्रण के लिए है क्योंकि सुखाभास में प्राप्त हुआ ज्ञान दुःख पड़ने पर विनष्ट हो जाता है।

किन अवस्थाओं और मानसिक विचारों में त्याग लेना चाहिए, यह अध्याय ६ गाथा ४९ में विदित है। मुनि अवस्थाओं में घोर परीषह सहन करने की तथा वायु, सर्दी और गर्मी सहने की आदत आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति को मुनि बनने की आज्ञा नहीं है। कोई व्याधिग्रस्त अथवा अंगहीन भी दीक्षा नहीं ले सकता। मुनिधर्म जैसा कि पहले बतलाया है, सामर्थ्य के अनुसार ही होना चाहिए। सामर्थ्य का अर्थ यह है कि उसे किसी प्रकार की विपत्ति का अनुभव न हो। यदि मुनि को दुःख का अनुभव हुआ तो मुनि पद लाभदायक होने की अपेक्षा हानिकारक अधिक होगा (अ० ७ गा० ९) इन्द्रिय जनित सुखों का त्याग उसके लिए सुखों का बलिदान प्रतीत न हो। इन्द्रिय जनित सुख स्वयमेव छूट जाता है क्योंकि मनुष्य को आनन्द का एक ऊंचा स्रोत मिल जाता है (८-२४)। भावी सुख की वांछा बल्कि निर्वाण के लिए भी लालसा की आज्ञा नहीं (६-५५)।

ये सब जैन धर्म के आत्म स्वरूप का फल है तपश्चरण की सीमा शुद्ध भावनाओं से परीषह सहन करते हुए तपस्वी के उदाहरण से ही मानी जा सकती है। श्री कुन्दकुन्द के जीवन से यह शिक्षा मिलती है कि तप का पालन करते हुए ९५ वर्ष उन्होंने ऐसे आनन्द से बिताए जो उनके लिए परमानन्द रूप था, और उनका जीवन मनुष्य जाति की उन्नति सम्बन्धी एक अत्यन्त उच्च प्रकार की मानसिक स्फूर्ति से पूर्ण था, यदि त्याग का यह फल हो सकता है तो वास्तव में जीवन व्यतीत करने के लिए यही सच्चा सिद्धान्त है।

प्रो० उपाध्याय का विचार है कि आर्य्य प्रकृति में इस प्रकार के त्याग की प्रणाली नहीं थी। हिन्दू ग्रंथों में त्याग, उसकी शक्ति तथा गुणों की अनेक कथाएं हैं। लेकिन उन ग्रंथों में कहीं पर उनको अनार्यमूलक होने की सम्भावना का निषेध नहीं है। जैन शास्त्रों तथा श्रीमद्भागवद् के अनुसार जैन मुनि के त्याग की उपमा श्री ऋषभदेव के जीवन के आधार पर दी गई है, जो केवल ध्यानावस्था में लवलीन थे और जिनको शरीर तथा बाह्य क्रियाओं की कोई चिन्ता न थी। श्री ऋषभदेव का वर्णन वेदों में भी मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि त्याग का यह रूप चाहे अनार्य मूलक ही हो। आर्य्यों ने इसे अपनी सभ्यता के उन्नत तथा आदि काल में ही अपना लिया था।

जैन ग्रंथों के आधार पर पता लगता है कि सब से पहले सभ्यता की शिक्षा भगवान् ऋषभदेव ने दी। उन्होंने खेती तथा नाना प्रकार के शिल्प, ग्राम तथा शहरों की रचना आदि सिखलाई जिसका प्रारम्भ उनके पूर्वज कुलकरों ने साधारण

रूप से किया था, अर्थात् भक्षणीय फलों का अनुसन्धान, पशुपालन, संस्थाओं की स्थापना तथा आत्मरक्षा के लिए पत्थर और लाठी का प्रयोग, जायदाद, वंश तथा फिर्के आदि की व्यवस्था और राजनीति के नियम। श्री ऋषभदेव के पिता अंतिम कुलकर थे। यदि भगवान् ऋषभदेव आर्य जाति के नहीं थे तो जैन त्याग का मूल रूप भी अनार्य मानना पड़ेगा।

किसी भी व्यक्ति को जैन धर्म तथा अन्य धर्मों को तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने की इच्छा होती है। किंतु यहां यह विषय अप्रासंगिक होगा। जैन धर्म का आधार एक रहस्यमय अनुभव धारा है, किन्तु उसका विकास बहुत नियमबद्ध है और वर्णन शैली सुस्पष्ट और सीधी है, जिससे सुगमता पूर्वक विदित हो जाता है कि वह प्रेम और सेवा के सिद्धान्तों से विपरीत सिद्धान्त धारा नहीं है। इससे अधिक यह भी कह सकते हैं कि आत्मानुभव किसी रूप में भी हो (श्री कुन्दकुन्द ने अपने समयसार की प्रारम्भिक गाथाओं में अनुभव के अनेक रूप होने की संभावना को माना है) उससे जो भाव उत्पन्न होते हैं, जो सदाचार की रीति ज्ञात होती है, और जो सामाजिक प्रबन्ध प्रतीत होता है, इनमें समानता ही दिखाई देती है, केवल क्षेत्र और काल के अनुसार उसमें भेद हो जाता है।

अक्तूबर १९४३ —जगतप्रसाद

नोट—अंग्रेजी भूमिका का यह अनुवाद ला० राजकिशन जी देहली निवासी ने किया है।

(पृष्ठ १६ से आगे)

११ वें अध्याय की अंतिम गाथा में कहा है—

जानातिपश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान्।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम्॥

अर्थात् केवली भगवान् व्यवहार नय से सब कुछ जानते तथा देखते हैं। निश्चय नय से केवल आत्मा को ही जानते तथा देखते हैं, दूसरे शब्दों में आत्मा ही में समस्त पदार्थों का समावेश है (आत्मा में ही समस्त ज्ञान सन्निहित है) केवली को आत्म ज्ञान हो जाने से सब ज्ञान हो जाना चाहिए किन्तु पर द्रव्य उनके उपयोग में नहीं आता। बा० शीतल प्रसाद जी ने प्रवचनसार के अपने संस्करण में २९ वीं तथा उसके आगे की गाथाओं का इसी भाव से अनुवाद किया है। यहाँ यह कहना उचित होगा कि उद्धृत गाथा वास्तव में पुस्तक के १२ प्रकरण में होनी चाहिए थी, जिसमें इस विषय पर विचार किया गया है और जो किसी समय नकल करने के अवसर पर ११ वें (शेष १७ पृष्ठ से प्रारम्भ होगा)

शुद्धि अशुद्धि पत्र प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	चक्षषा	चक्षुषा
३	३२	उम	उन
४	२०	प्रक्षिप्तत्ता	प्रक्षिप्तता
६	४	कहा।	कहाँ
,,	३०	गन्वेषणा	गवेषणा
७	९	उपरोक्त	उपर्युक्त
९	२३	दिनचयर्य्या	दिनचर्य्या
१३	२	भुक्त	मुक्त
१७	२६	अनिवचनीय	अनिर्वचनीय
१८	११	उपरोक्त	उपर्युक्त

शुद्धि अशुद्धि पत्र ग्रन्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१०	विदग्ह	विदग्हू
१४	२१	णिज्जायय	णिज्जाय
१६	२५	समितिभाषेण	समितिभाषया
२१	१	स्धितीकरण	स्थितीकरण
२२	२	मग्गणगुण	मग्गगुण
,,	१६	जिनसम्यक्त्म	जिनसम्यक्त्वम
२७	८	पंचेंदियं	पंचेंदिय
२८	४	महान्ति	महन्ति
२९	५	तुरयम्मि	तुरियम्मि
,,	१४	रागद्वेषदीनां	रागद्वेषादीनां
३०	६	जिनमार्ध	जिनमार्गे
,,	१३	विभक्तं	विभक्ति
३४	२०	ध्यानय	ध्यानस्य
३५	१३	कहलाता	कहलाता है
३५	१९	वीतराणा	वीतरागा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७	८	सुवीतरायं	सुवीयरायं
,,	२०	सकी	उसकी
३८	१६	रहित	सहित
३९	१९	कार	कारण
४५	७	वैद्य	वेद्य
५६	४	अहियपरं	अहिययरं
५८	३	षडण	पडण
,,	११	पनभङ्गै	पतनभङ्गैः
५९	१६	ग्रकार	प्रकार
,,	१७	क्कर	कर
६०	१२	द्रव्यश्रयण:	द्रव्यश्रमण:
,,	१६	रमण	मरण
६३	१	सक्त	सवत्त
,,	२०	प्ररिग्रह	परिग्रह
६७	१९	बाहिर	बाहिरा
७०	१०	सायरं	सागरे
७३	१७	प्रबन्ध	बन्ध
७९	२५	तिव्व दुक्खं	तिव्वदुक्खं
८३	७	लाम	लाभ
९७	१	तीर्थकर	तीर्थंकर
९९	२	णमो	णमोणमो
१००	३	आमा	आत्मा
,,	५	आव्मा	आत्मा
१०२	१५	मोक्षस्य	मोक्खस्स
१०५	११	स्वग	स्वर्ग
११६	७	समचरित्त	सगचरित्त
११८	१२	परगाणु	परमाणु
१२४	१४	परिचत्त	परिचत्तं
१३७	६	स्याग	त्याग

ग्रन्थानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना हिन्दी अनुवाद	१—२१
१ दर्शन पाहुड	१—१०
२ सूत्र पाहुड	११—१८
३ चारित्र पाहुड	१९—३२
४ बोध पाहुड	३३—५०
५ भाव पाहुड	५१—९८
६ मोक्ष पाहुड	९९—१२८
७ लिंग पाहुड	१२९—१३५
८ शील पाहुड	१३६—१४७

अनुवादक का वक्तव्य

विज्ञ पाठको! जैन सिद्धान्त के उच्चतम ग्रन्थ अष्टपाहुड के रचयिता श्री कुन्द-कुन्दाचार्य के विषय में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है, कारण कि उक्त आचार्य के नाम से समाज का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। यद्यपि इनके जन्म स्थान और ग्रंथ रचना के काल में लोगों के भिन्न २ मत हैं, तथापि यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त आचार्य का जन्म विक्रम की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुआ है। तथा इन्होंने दक्षिण भारत के कौण्ड-कौण्ड नामक स्थान को अपने जन्म से विभूषित किया, उसी स्थान के नाम से इनका नाम भी कुन्दकुन्द आचार्य प्रसिद्ध हुआ। इनके जन्मादि विषयक ऐतिहासिक बातों का पूरा वर्णन इस ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवादक श्रीमान् बाबू जगत-प्रसाद जी जैन C. I. E. महोदय ने अपनी भूमिका में भली भाँति कर दिया है।

यद्यपि इस ग्रंथ पर हिन्दी और संस्कृत की अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं, तथापि भावों की अस्पष्टता और रीति की प्राचीनता के कारण आधुनिक पाठकों को अधिक रुचिकर प्रतीत नहीं हुईं। इसलिए जैन साहित्य के प्रेमी और उदार-चित्त श्रीमान् बाबू जगत प्रसाद जी C. I. E. जनरल सैक्रेटरी अनाथाश्रम देहली की प्रेरणा से मैंने यह सरल व संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद करने का साहस किया है। इस ग्रंथ का अनुवाद करने में मुझे श्री १०८ श्रुतसागर सूरि रचित षट्पाहुड की संस्कृत टीका, पं० सूरज भान जी की हिन्दी टीका और जयपुर निवासी प० जयचन्द्र जी छावड़ा की प्राचीन हिन्दी टीका से पर्याप्त सहायता मिली है। जिसके लिये मैं उपर्युक्त महानुभावों का हृदय से आभार मानता हूं। ग्रंथ की मूल गाथाओं और संस्कृत छाया का संशोधन उपर्युक्त मुद्रित ग्रंथों से मिलाकर किया गया है। यद्यपि इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्तलिखित शुद्ध व प्रामाणिक प्रति हमें प्राप्त न हो सकी, तथापि ग्रंथ को शुद्धतापूर्वक छपवाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। प्रेस की असावधानी से जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं उनका शुद्धिपत्र ग्रन्थ के प्रारम्भ में लगा दिया गया है। आशा है कि विचारशील पाठक हमारी भूल पर ध्यान न देकर क्षमा प्रदान करेंगे और ग्रन्थ शुद्ध करके पढ़ेंगे। यदि समाज के उदारचित्त महानुभावों ने इस अनुवाद को अपनाया तो मैं अपने परिश्रम को कृतार्थ समझूंगा। तथा अन्य उपयोगी ग्रन्थों का अनुवाद करने का साहस करूंगा।

अन्त में समाज के विद्वानों और महानुभावों से अपनी त्रुटियों की क्षमा याचना करता हुआ मैं अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं—इत्यलं विस्तरेण।

अक्तूबर १९४३

समाज सेवक—
पारसदास जैन न्यायतीर्थ।

लक्ष्मी प्रेस, देहली।

अष्टपाहुड़

(१) दर्शन पाहुड़

गाथा— काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण ॥ १ ॥

छाया— कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं आदि तीर्थंकर श्रीवृषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामी को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन के मार्ग को क्रमपूर्वक संक्षेप से कहूंगा ।

गाथा— दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठोजिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

छाया— दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम् ।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्रभगवान् ने गणधरादि शिष्यों के लिये दर्शनमूल धर्म का उपदेश दिया है । इसलिये हे भव्य जीवो ! उस दर्शनमूलधर्म को अपने कानों से सुनो और जो सम्यग्दर्शन रहित है उसको नमस्कार न करो ।

गाथा— दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

छाया— दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टाः न सिध्यन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट ही हैं । क्यों कि—जिनका सम्यग्दर्शन

नष्ट हो गया है उनको मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। तथा जिनका चारित्र गुण नष्ट होगया है और सम्यग्दर्शन बना हुआ है, उनको तो चारित्र की प्राप्ति होकर मोक्ष प्राप्त होसकता है, किन्तु जिनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, उनको कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

गाथा— सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

छाया— सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि।
आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन पुरुषों को सम्यग्दर्शन रूप रत्न प्राप्त नहीं हुआ है, वे अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी चार प्रकार की आराधना को प्राप्त न करने से चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं ॥४॥

गाथा— सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्स कोडीहिं ॥ ५ ॥

छाया— सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरंतोणं।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्वरहित हैं वे यदि भली प्रकार हजार कोटि वर्ष तक भी कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता है ॥५॥

गाथा— सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥ ६ ॥

छाया — सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमानाः ये सर्वे।
कलिकलुषपापरहिताः वरज्ञानिनः भवन्ति अचिरेण ॥ ६॥

अर्थ—जो मनुष्य सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्य आदि गुणों से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं और कलियुग के मलिन पाप से रहित हैं, वे सब थोड़े ही समय में उत्कृष्ट ज्ञानी अर्थात् केवल ज्ञानी हो जाते हैं ॥६॥

गाथा— सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

छाया— सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य ।
कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पुरुष के मन में हर समय सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह बहता रहता है, उसका पूर्व में बँधा हुआ भी कर्मरूपी धूल का आवरण नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

गाथा— जे दंसणेसु भट्टा णाणेभट्टा चरित्तभट्टा य ।
एदेभट्ट विभट्टा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

छाया— ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञानेभ्रष्टाः चरित्रभ्रष्टाः च ।
एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयन्ति ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष दर्शन, ज्ञान, और चारित्र इन तीनों गुणों से भ्रष्ट (रहित) हैं, वे अत्यन्त भ्रष्ट (पतित) हैं । तथा वे अपने उपदेश से अन्य लोगों को भी भ्रष्ट करते हैं ॥८॥

गाथा— जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी ।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

छाया— यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी ।
तस्य च दोषान् कथयन्तः भग्नाः भग्नत्वं ददति ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कोई धर्मात्मा पुरुष संयम, तप, नियम, योग आदि गुणों को धारण करता है, उसके गुणों में दोषों का आरोप करते हुए पापी पुरुष आप भ्रष्ट हैं और दूसरे धर्मात्माओं को भी भ्रष्ट करना चाहते हैं ॥ ९ ॥

गाथा—जहमूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ १० ॥

छाया—यथामूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः ।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिध्यन्ति ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे वृक्ष की जड़ नष्ट हो जाने पर उसकी शाखा, पत्र, फल, फूल आदि की वृद्धि नहीं होती, वैसे ही जो पुरुष जिनमत के श्रद्धान से रहित हैं उनका मूलधर्म नष्ट हो गया है, इसलिये वे मोक्ष रूपी फल को नहीं पाते हैं । ॥ १० ॥

गाथा—जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ ११ ॥

छाया—यथा मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे वृक्ष की जड़ से शाखा, पत्र, फल, फूल आदि बहुत गुण वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, वैसे ही मोक्षमार्ग का मूल कारण जिन धर्म का श्रद्धान है, ऐसा गणधरादि देवों ने कहा है। ॥ ११ ॥

गाथा—जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

छाया—ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादयोः पातयन्ति दर्शनधरान्।
ते भवन्ति लल्लमूकाः बोधिः पुनः दुर्लभा तेषाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टि पुरुष सम्यग्दृष्टि जीवों को अपने चरणों में नमस्कार कराते हैं, वे परभव में लूले और गूंगे होते हैं। उनको रत्नत्रय प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। ॥ १२ ॥

गाथा—जेवि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

छाया—येऽपि पतन्ति च तेषां जानन्तः लज्जागारवभयेन।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—दर्शन को धारण करने वाले जो पुरुष दर्शनभ्रष्ट पुरुषों को मिथ्या दृष्टि जानते हुए भी लज्जा, गौरव और भय के कारण नमस्कार करते हैं, वे भी पाप की अनुमोदना करने के कारण रत्नत्रय को प्राप्त नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

गाथा—दुविहं पि गंथचायं तीसुवि जोयेसुसंजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥ १४ ॥

छाया—द्विविधः अपिग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति।

ज्ञाने करणशुद्धे उद्भभोजने दर्शनं भवति ॥ १४ ॥

अर्थ--जहां बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार की परिग्रह का त्याग होता है, शुद्ध मन, वचन, काय से संयम पाला जाता है, कृत, कारित व अनुमोदना से

ज्ञान में विकार भाव नहीं होता है और खड़े होकर आहार किया जाता है, ऐसा मूर्तिमान् दर्शन पूजने योग्य है। ॥ १४ ॥

गाथा—सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

छाया—सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः।
उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयो ऽश्रेयो विजानाति ॥ १५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन से ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से सब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है तथा पदार्थों के जानने से यह जीव अपनी भलाई बुराई को पहचानने लगता है। ॥ १५ ॥

गाथा—सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥ १६ ॥

छाया— श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥ १६ ॥

अर्थ—भलाई और बुराई के मार्ग को जानने वाला पुरुष मिथ्यात्व स्वभाव को नष्ट कर सम्यक्त्व स्वभाव वाला हो जाता है तथा सम्यक्त्व के प्रभाव से ही तीर्थंकर आदि अभ्युदय पद पाकर अन्त में निर्वाण पद पाता है ॥ १६ ॥

गाथा— जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७ ॥

छाया— जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—यह जिन भगवान् का वचन विषयसुख को दूर करने वाली औषधि है। तथा जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि रोगों को हरने और सब दुःखों को नाश करने के लिये अमृत के समान है ॥१७॥

गाथा— एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाणं तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥ १८ ॥

छाया— एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु ।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति ॥ १८ ॥

अर्थ— जिनमत में तीन लिंग (भेष) बताये हैं। उनमें पहला तो जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रन्थलिंग है। दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का है और तीसरा भेष आर्यिका का है। इसके सिवाय चौथा भेष कोई नहीं है ॥ १८ ॥

गाथा— छह दव्व णवपयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

छाया— षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पंचास्तिकायाः सप्ततत्वानि निर्दिष्टानि ।
श्रद्धाति तेषां रूपं स सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय, और सात तत्व जैन शास्त्रों में बताये गये हैं। जो पुरुष इनका यथार्थ श्रद्धान करता है उसको सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ॥१९॥

गाथा— जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

छाया— जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन बताया है और केवल शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है ॥२०॥

गाथा— एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

छाया— एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥

अर्थ—इस प्रकार जिन भगवान् का कहा हुआ सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में उत्तम रत्न है और मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। इसलिये हे भव्यजीवो ! तुम इस सम्यग्दर्शन को अन्तरङ्ग भाव से (भक्तिपूर्वक) धारण करो ॥२१॥

गाथा— जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

छाया— यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम् ।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥

अर्थ—जितना चारित्र धारण करने की शक्ति है उतना तो धारण करना चाहिये और बाकी का श्रद्धान करना चाहिए। क्योंकि जिनभगवान् ने श्रद्धान करने वाले के सम्यग्दर्शन बताया है ॥२२॥

गाथा— दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

छाया— दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालसुप्रस्वस्थाः ।
एते तु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥२३॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय आदि में अच्छी तरह लीन हैं और आराधनाओं के धारक गणधरादि आचार्यों का गुणगान करने वाले हैं वे ही नमस्कार करने योग्य हैं ॥२३॥

गाथा—सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सोसंजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

छाया— सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी ।
सः संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टी भवति एषः ॥२४॥

अर्थ—जो जिनेन्द्रभगवान् के दिगम्बर रूप को देखकर ईर्ष्याभाव से उसका विनय नहीं करता है वह संयम धारण करने पर भी मिथ्यादृष्टी ही है ॥२४॥

गाथा— अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

छाया— अमरैः वन्दितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम् ।
ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिताः भवन्ति ॥२५॥

अर्थ—शील सहित और देवों से नमस्कार योग्य जिनेश्वर के रूप को देखकर जो पुरुष अपना गौरव रखते हैं वे भी सम्यक्त्व रहित हैं ॥२५॥

गाथा— असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

छाया—असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्येत ।
द्वौ अपिभवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति ॥२६॥

अर्थ—असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिये और भावसंयमरहित बाह्य नग्नरूप धारण करने वाला भी नमस्कार योग्य नहीं है। क्योंकि ये दोनों संयमरहित होने से समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है ॥२६॥

गाथा— णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो णहु सवणोणेव सावओ होइ ॥२७॥

छाया— नापि देहो वन्द्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।
कः वन्द्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति ॥२७॥

अर्थ—देह को कोई नमस्कार नहीं करता, उत्तम कुल और जातिसहित को भी नमस्कार नहीं करता। सम्यग्दर्शनादि गुणरहित को कौन नमस्कार करता है, क्योंकि इन गुणों के बिना मुनिपना और श्रावकपना नहीं हो सकता ॥२७॥

गाथा— वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥२८॥

छाया— वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च ।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं तप करने वाले साधुओं को, उनके मूलगुणों को, उत्तरगुणों को, ब्रह्मचर्य को, और मुक्तिगमन को सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

गाथा—चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो ।
अणवरबहुसत्ताहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥२९॥

छाया— चतुःषष्ठिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः ।
अनवरतबहुसत्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्तः ॥२९॥

अर्थ—जो चौसठ चमरसहित हैं, चौंतीस अतिशयसहित हैं, सदैव बहुत जीवों को हित का उपदेश करने वाले हैं और कर्मक्षय के कारण हैं, ऐसे तीर्थंकर परमदेव पूजने योग्य हैं ॥२९॥

गाथा— णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

छाया— ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥३०॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चार गुणों के संयोग से संयमगुण होता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा जिनशासन में कहा है ॥३०॥

गाथा— णाणं णरस्स सारो सारः अपि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

छाया— ज्ञानं नरस्य सारः सारः अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम् ॥३१॥

अर्थ--मनुष्य के लिये प्रथम तो ज्ञान सार है और ज्ञान से भी अधिक सम्यग्दर्शन सार है । क्योंकि सम्यक्त्व से ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्-चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥३१॥

गाथा— णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहियेण ।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥ ३२ ॥

छाया— ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ॥ ३२ ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व सहित तप और चारित्र इन चारों के संयोग होने पर ही जीव सिद्ध हुए हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३२ ॥

गाथा— कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

छाया—कल्याणपरम्परया लभन्ते जीवाः विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीव विशुद्ध सम्यग्दर्शन से कल्याण की परम्परा पाते हैं। इस लिए सम्यग्दर्शनरूपी रत्न लोक में देव और दानवों के द्वारा पूजा जाता है ॥३३॥

गाथा— लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमे
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं च मोक्खं च ॥ ३४ ॥

छाया— लब्ध्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह जीव उत्तम गोत्र सहित मनुष्य पर्याय तथा सम्यग्दर्शन पाकर अविनाशी सुख और मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

गाथा— विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥ ३५ ॥

छाया— विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणैः संयुक्तः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥ ३५ ॥

अर्थ— केवल ज्ञान होने के बाद १००८ लक्षण और ३४ अतिशय सहित जिनेन्द्र भगवान् जितने समय तक इस लोक में विहार करते हैं, उतने समय तक उनके शरीर सहित प्रतिबिम्ब को स्थावरप्रतिमा कहते हैं ॥ ३५ ॥

गाथा— वारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

छाया— द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्म क्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम्।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो बारह प्रकार के तप से विधिपूर्वक अपने कर्मों का नाश कर व्युत्सर्ग से शरीर को छोड़ते हैं वे सर्वोत्कृष्ट मोक्ष अवस्था को प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

(२) सूत्र पाहुड़

गाथा— अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ १ ॥

छाया— अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयन्ति परमार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो अरहन्त देव के द्वारा कहा गया है, गणधरादि देवों से भलीभांति रचा गया है और सूत्र का अर्थ जानना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसे सूत्र के द्वारा मुनि मोक्ष का साधन करते हैं ॥ १ ॥

गाथा— सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

छाया— सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरम्परेण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं वर्तते शिवमार्गे यः भव्यः ॥ २ ॥

अर्थ—सर्वज्ञभाषित द्वादशांग सूत्र में आचार्यों की परम्परा से जो कुछ बताया गया है उस शब्द और अर्थरूप दो प्रकार के सूत्र को जानकर जो मोक्षमार्ग में लगता है वही भव्य जीव है ॥ २ ॥

गाथा— सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ॥ ३

छाया— सूत्रे ज्ञायमानः भवस्य भवनाशनं च सः करोति ।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष सूत्र के जानने में चतुर है, वह संसार का नाश करता है । जैसे बिना डोरे की सुई नष्ट हो जाती और डोरे वाली सुई नष्ट नहीं होती है ॥ ३ ॥

गाथा— पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४ ॥

छाया— पुरूषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे ।
स्वचेतनप्रत्यक्षेण नाशयति तं सः अदृश्यमानोऽपि ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसको अपना स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं है, वह पुरुष द्वादशांग सूत्र का ज्ञाता होकर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है । इसलिये वह गत अर्थात् नष्ट नहीं होता, किन्तु वह स्वयं प्रगट होकर संसार का नाश करता है ॥ ४ ॥

गाथा— सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सोहु सद्दिट्ठी ॥५॥

छाया—सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादि बहुविधमर्थम् ।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः ॥५॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेन्द्र भाषित सूत्र के अर्थ को, जीवाजीवादि बहुत प्रकार के पदार्थों को और इनमें त्यागने और न त्यागने योग्य पुद्गल और जीव के स्वरूप को जानता है वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि है । ॥५॥

गाथा—जं सूत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपंजं ॥६॥

छाया—यत्सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् ।
तत् ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुंजम् ॥६॥

अर्थ—जो सूत्र जिनेन्द्र भगवान् से कहा गया है उसको व्यवहार और निश्चय रूप से जानकर योगी अविनाशी सुख को पाता है और कर्मरूपी मैल के समूह को नाश करता है ॥६॥

गाथा—सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥७॥
छाया—सूत्रार्थपदविनष्टः मिथ्यादृष्टिः हि स ज्ञातव्यः।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥७॥

अर्थ—जो पुरुष सूत्र के अर्थ और पद से रहित है अर्थात् दिगम्बर मुद्रारहित है, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। इसलिये वस्त्र सहित मुनि को हंसी में भी पाणिपात्र भोजन नहीं करना चाहिये ॥७॥

गाथा—हरिहरतुल्लोवि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥
छाया—हरिहरतुल्यो ऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटीः।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष सूत्र के अर्थ से भ्रष्ट है वह हरिहरादि के समान विभूति वाला भी स्वर्ग में उत्पन्न होता है, किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं करता है तथा दानादिक के फल से स्वर्ग में उत्पन्न होकर करोड़ों भव तक संसार में ही घूमता रहता है ॥८॥

गाथा—उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं ॥९॥
छाया—उत्कृष्टसिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरूभारश्च।
यः विहरति स्वच्छन्दं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥९॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट सिंह के समान निर्भय आचरण करता है, बहुत सी तपश्चरणादि क्रिया सहित है, गुरु के पद को धारण करता है और स्वच्छन्द रूप से भ्रमण करता है वह पापी मिथ्या दृष्टि है ॥९॥

गाथा—णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

छाया—निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।
एकोऽपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥१०॥

अर्थ—परमोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेव ने जो वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र आहार करने का उपदेश दिया है, वह एक अद्वितीय मोक्षमार्ग है, शेष सब मिथ्यामार्ग हैं ॥१०॥

गाथा—जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥

छाया—यः संयमेषु सहितः आरंभपरिग्रहेषु विरतः अपि ।
सः भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥१२॥

अर्थ—जो सब प्रकार के संयमों को धारण करता है और समस्त आरम्भ तथा परिग्रह से विरक्त रहता है; वही इस सुर असुर और मनुष्य सहित लोक में नमस्कार करने योग्य है ॥११॥

गाथा—जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू ॥१२॥

छाया—ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।
ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥१२॥

अर्थ—जो मुनि सैकड़ों शक्ति सहित हैं, क्षुधादिक बाईस परीषहों को सहते हैं और कर्मों के एक देश क्षयरूप निर्जरा करने में चतुर हैं, वे साधु नमस्कार करने योग्य हैं ॥१२॥

गाथा— अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय य ॥ १३ ॥

छाया— अवशेषा ये लिंगिनः दर्शनज्ञानेन सम्यक् संयुक्ताः ।
चेलेन च परिगृहीताः ते भणिताः इच्छाकारयोग्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा के सिवाय जो अन्य लिंगी हैं अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक का भेष धारण करते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित हैं तथा वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं, वे इच्छाकार करने योग्य कहे गये हैं । अर्थात् उनको 'इच्छामि' कह कर नमस्कार करना चाहिये ॥ १३ ॥

गाथा— इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं।
ठाणे ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होई ॥ १४ ॥

छाया— इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म।
स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखंकरो भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनसूत्र में स्थित होता हुआ इच्छाकार शब्द के प्रधान अर्थ को समझता है। तथा सम्यक्त्व सहित श्रावक की प्रतिमा को धारण करके आरंभादिक कार्यों का त्याग करता है, वह परलोक में स्वर्गसुख पाता है ॥१४॥

गाथा— अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तहवि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ १५ ॥

छाया— अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान्।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा जो आत्मा को नहीं चाहता है अर्थात् आत्मस्वरूप का श्रद्धान नहीं करता है और अन्य सब धर्माचरणों को पालता है, तो भी वह मोक्ष नहीं पाता है, तथा उसको संसार में ठहरने वाला बताया गया है ॥ १५ ॥

गाथा— एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेइ मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥ १६ ॥

छाया— एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥ १६ ॥

अर्थ—इस कारण हे भव्य जीवो ! तुम मन, वचन, काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो। क्योंकि जिस कारण से मोक्ष प्राप्त करो उसको प्रयत्नपूर्वक जानना योग्य है ॥ १६ ॥

गाथा— बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥ १७ ॥

छाया— बालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम्।
भुंजीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने ॥ १७ ॥

अर्थ—जैन शास्त्र में साधुओं के लिए बाल के अग्रभाग (नोक) के बराबर भी परिग्रह नहीं बताया गया है, क्योंकि वे तो एक ही बार अपने हाथ रूपी पात्र में दूसरे का दिया हुआ प्रासुक आहार लेते हैं ॥ १७ ॥

गाथा— जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥

छाया— यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः ।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो मुनि नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा धारण करता है, वह अपने हाथ में तिल-तुषमात्र अर्थात् तिल के छिलके के बराबर भी परिग्रह नहीं रखता है। यदि थोड़ा-बहुत परिग्रह रखता है तो उसके फल से निगोद में उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

गाथा—जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥ १९ ॥

छाया— यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य ।
स गर्ह्यः जिनवचने परिग्रहरहितः निरागारः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस लिंग (भेष) में थोड़ा बहुत परिग्रह ग्रहण करना बताया गया है, वह लिंग निन्दा के योग्य है, क्योंकि जिनागम में परिग्रह रहित को निर्दोष मुनि कहा गया है ॥ १९ ॥

गाथा— पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

छाया— पंचमहाव्रतयुक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः स संयतो भवति ।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः स भवति हि वंदनीयः च ॥ २० ॥

अर्थ—जो मुनि पांच महाव्रत और तीन गुप्ति सहित है, वह संयमी होता है। वही परिग्रह रहित मोक्ष मार्ग है और वही नमस्कार करने योग्य है ॥२०॥

गाथा— दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

छाया— द्वितीयं चोक्तं लिंगं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च ।
भिक्षां भ्रमति पात्रे समितिभाषेण मौनेन ॥ २१ ॥

अर्थ—ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों का दूसरा लिंग (भेष) बताया गया है, जो भिक्षावृत्ति से पात्र में आहार करता है, भाषासमितिरूप हितकारी प्रियवचन बोलता है, अथवा मौन धारण करता है ॥ २१ ॥

गाथा— लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥ २२ ॥

छाया— लिंगं स्त्रीणां भवति भुंक्ते पिण्डं स्वेककाले ।
आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुंक्ते ॥ २२ ॥

अर्थ--स्त्रियों का अर्थात् आर्यिकाओं का तीसरा भेष बताया गया है। वह दिन में एक बार भोजन करती है। आर्यिका और क्षुल्लिका भी एक वस्त्र धारण करती है और वस्त्रसहित ही भोजन करती है॥ २२ ॥

गाथा—णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

छाया—नापि सिध्यति वस्त्रधरः जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः।
नग्नः विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥ २३ ॥

अर्थ—जिन शासन में ऐसा कहा है कि यदि वस्त्र धारण करने वाला तीर्थंकर भी हो, तो उसको गृहस्थ अवस्था से मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि नग्नपना ही मोक्ष मार्ग है, बाकी सब लिंग मिथ्यामार्ग हैं ॥ २३ ॥

गाथा—लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

छाया—लिंगे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षदेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥२४॥

अर्थ—स्त्रियों के योनि, स्तन, नाभि, कांख आदि स्थानों में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति कही गई है। इसलिये उनके महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो सकती है। उनके तो उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं। ॥२४॥

गाथा— जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ २५ ॥

छाया— यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता ।
घोरं चरित्वा चरित्रं स्त्रीषु न पापका भणिता ॥ २५ ॥

अर्थ—यदि कोई स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तो ी मोक्षमार्ग में लगी हुई है । कठिन तपश्चरणादि चारित्र धारण करती है, इसलिये सोलहवें स्वर्ग तक जाती है, किन्तु उनके मोक्ष प्राप्ति के योग्य दीक्षा नहीं हो सकती ॥२५॥

गाथा— चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥ २६ ॥

छाया— चित्ताशोधि न तासां शिथिलो भावः तथा स्वभावेन ।
विद्यते मासा तासां स्त्रीषु नाशंकया ध्यानम् ॥ २६ ॥

अर्थ—स्त्रियों का मन शुद्ध नहीं होता, उनके परिणाम स्वभाव से शिथिल होते हैं और प्रत्येक महीने में रुधिरस्राव (मासिकधर्म) होता रहता है । इस कारण स्त्रियों में शंकारहित ध्यान नहीं होता, और इसीलिये मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

गाथा— गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण ।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

छाया— ग्राह्येण अल्पग्राह्याः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन ।
इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥२७॥

अर्थ—जो मुनि ग्रहण करने योग्य आहारादि को भी थोड़ी मात्रा में ग्रहण करते हैं, जैसे कोई पुरुष समुद्र के जल में से केवल अपना वस्त्र धोने के लिए जल ग्रहण करता है । इसी प्रकार जिन मुनियों की इच्छा दूर हो गई है, उनके सब दुःख दूर हो गये हैं ॥ २७ ॥

॥ (३) चारित्रपाहुड़ ॥

गाथा— सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥ १ ॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥ २ ॥

छाया— सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वंदित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥ १ ॥
ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि मैं सब पदार्थों को जानने और देखने वाले, मोहरहित रागद्वेषरहित, उत्कृष्ट पद में स्थित, तीनों लोक के जीवों से नमस्कार करने योग्य, भव्यजीवों के द्वारा पूजनीय अर्हन्तों को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की शुद्धता का कारण तथा मोक्ष की प्राप्ति के उपायरूप चारित्रपाहुड़ को कहूंगा ॥ १-२ ॥

गाथा— जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ३ ॥

छाया— यज्जानाति तत् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥ ३ ॥

अर्थ— जो जानता है सो ज्ञान है और जो देखता है अर्थात् श्रद्धान करता है वह दर्शन कहा गया है । तथा इन दोनों के संयोग होने से चारित्र गुण प्रगट होता है ॥ ३ ॥

गाथा— एए तिण्णिवि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ४ ॥

छाया— एते त्रयोऽपि भावाः भवन्ति जीवस्य अक्षयाः अमेयाः ।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ— जीव के ये ज्ञानादिक तीनों भाव अक्षय और अनन्त हैं तथा इन्हीं को शुद्ध करने के लिये जिनेन्द्र देव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है ॥ ४ ॥

गाथा— जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

छाया— जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।
द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥ ५ ॥

अर्थ— इनमें पहला तो सम्यक्त्व के आचरण रूप चारित्र है जो जिन भाषित तत्वों के ज्ञान और श्रद्धान से शुद्ध है । तथा दूसरा संयम के आचरण रूप चारित्र है, वह भी जिनेन्द्र देव के ज्ञान से उपदेश किया हुआ शुद्ध है ॥ ५ ॥

गाथा— एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ ।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६ ॥

छाया— एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन् ।
परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥ ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यक्त्वाचरणरूप चारित्र को जानकर जिन देव से कहे हुए, मिथ्यात्व के उदय से होने वाले शंकादि दोषों को तथा ३ मूढ़ता, ६ अनायतन, ८ मद आदि सम्यक्त्व के सब मलों को मन, वचन, काय से त्याग करो ॥ ६ ॥

गाथा— णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥

छाया— निःशंकितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च तेऽष्टौ ॥ ७ ॥

अर्थ— निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के ८ अङ्ग शंकादि दोषों के अभाव से प्रगट होते हैं ॥ ७ ॥

गाथा— तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ८ ॥

छाया— तच्चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।
यच्चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥ ८ ॥

अर्थ— वह जिन भगवान् का श्रद्धान जब निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध होता है और यथार्थ ज्ञान के साथ आचरण किया जाता है, वह पहला सम्यक्त्व-चरण चारित्र मोक्ष प्राप्ति का प्रधान उपाय है ॥ ८ ॥

गाथा—सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥

छाया—सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः ।
ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥९॥

अर्थ—जो ज्ञानी पुरुष मूढ़ता रहित होकर सम्यक्त्वचरण चारित्र से शुद्ध होते हैं, यदि वे संयमचरण चारित्र से भलीभांति शुद्ध हों तो शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥९॥

गाथा—सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तहवि ण पावंति णिव्वाणं ॥१०॥

छाया—सम्यक्त्वचरणभ्रष्टाः संयमचरणं चरन्ति ये ऽपि नराः ।
अज्ञानज्ञानमूढा तथापि न प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१०॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यक्त्वचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं, वे अज्ञान से मूढदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) होते हैं, इसलिये मोक्ष नहीं पाते हैं ॥१०॥

गाथा—वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गणगुणसंसणाए उवगूहण रक्खणाए य ॥११॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं ।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥१२॥

छाया—वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदक्षया ।
मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥११॥
एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः ।
जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥१२॥

अर्थ—जिन भगवान् के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व को मोह रहित धारण करता हुआ सम्यग्दृष्टी जीव वात्सल्य, विनय, दान करने योग्य करुणा, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, उपगूहन, स्थितिकरण और आर्जवभाव इन चिन्हों से जाना जाता है ॥११-१२॥

गाथा—उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा ।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥१३॥

छाया—उत्साहभावनासंप्रशंसासेवाः कुदर्शने श्रद्धा ।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१३॥

अर्थ—अज्ञान और मिथ्यात्व के मार्गरूप मिथ्यामत में उत्साह, भावना, प्रशंसा सेवा और श्रद्धान करता हुआ पुरुष जिन धर्म के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को छोड़ देता है ॥१३॥

गाथा—उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

छाया—उत्साहभावनासंप्रशंसासेवाः सुदर्शने श्रद्धा ।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥१४॥

अर्थ—समीचीन मार्ग में ज्ञानमार्ग के द्वारा उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा और श्रद्धान करता हुआ पुरुष जिनमत के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को नहीं छोड़ता है ॥१४॥

गाथा—अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१५॥

छाया—अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे।
अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्म्मे अहिंसायाम् ॥१५॥

अर्थ—हे भव्य जीव! तू ज्ञान के होने पर अज्ञान को, निर्मल सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यादर्शन को और अहिंसा-लक्षण धर्म के होने पर आरम्भ सहित मोह को छोड़ दे ॥१५॥

गाथा—पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥

छाया—प्रव्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥१६॥

अर्थ—हे भव्य जीव! तू परिग्रह के त्यागरूप दीक्षा को ग्रहण कर और उत्तम संयम रूप भाव होने पर उत्तम तप धारण कर। क्योंकि मोहरहित वीतरागभाव होने पर निर्मल ध्यान प्राप्त होता है ॥१६॥

गाथा— मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
बज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ १७ ॥

छाया— मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने अज्ञानमोहदोषैः।
बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥ १७ ॥

अर्थ—मूढ़ जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोषों से मलिन मिथ्यामार्ग में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के उदय से प्रवृत्ति करते हैं ॥ १७ ॥

गाथा— सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चारित्तजे दोसे ॥ १८ ॥

छाया— सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वेन च श्रद्दधाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह आत्मा जब समीचीन दर्शनगुण से सत्तारूप वस्तु को देखता है, सम्यग्ज्ञान से द्रव्य और पर्याय को जानता है, तथा सम्यक्त्व से यथार्थ वस्तु का श्रद्धान करता है, तब चारित्र के दोषों को दूर करता है ॥ १८ ॥

गाथा— एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १९ ॥

छाया— एते त्रयोऽपि भावाः भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य ।
निजगुणमाराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥ १९ ॥

अर्थः—ये सम्यग्दर्शनादि तीनों भाव मिथ्यात्वरहित जीव के होते हैं। उस समय यह जीव अपने चेतनागुण का चिन्तवन करता हुआ शीघ्र ही कर्म का नाश करता है ॥ १९ ॥

गाथा— संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरूमत्ता णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ २० ॥

छाया— संख्येयामसंख्येयगुणां संसारिमेरूमात्रां णं ।
सम्यक्त्वमनुचरन्तः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥ २० ॥

अर्थ— सम्यक्त्व का आचरण करते हुए धैर्यवान् पुरुष संसारी जीवों की मर्यादा रूप कर्मों की संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा करते हैं और कर्म के उदयजनित दुःख का नाश करते हैं ॥ २० ॥

गाथा— दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥ २१ ॥

छाया— द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारम् ।
सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम् ॥ २१ ॥

अर्थ— संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है, एक सागार दूसरा निरागार। इनमें से परिग्रह सहित श्रावक के सागार चारित्र होता है और परिग्रह रहित मुनि के निरागार चारित्र होता है ॥ २१ ॥

गाथा— दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २२ ॥

छाया— दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च।
ब्रह्म आरंभः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्टः देशविरतश्च ॥ २२ ॥

अर्थ— दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग इस प्रकार ये देशविरत के ११ भेद हैं। इन्हें ११ प्रतिमा भी कहते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ— अब ग्यारह प्रतिमाओं का भिन्न २ स्वरूप संक्षेप से कहते हैं:—

(१) शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित अष्टमूल गुणों का धारण करना सो दर्शनप्रतिमा है। (२) अतीचार रहित ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों को पालना सो व्रतप्रतिमा है। (३) तीनों काल विधिपूर्वक निरतिचार सामायिक करना सो सामायिक प्रतिमा है। (४) अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में कषायादि का त्याग करना सो प्रोषधोपवास प्रतिमा है। (५) कच्चे फल फूल वनस्पति आदि के खाने का त्याग करना सो सचित्तत्याग प्रतिमा है। (६) रात्रि में सब प्रकार के आहार का त्याग करना सो रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा है। (७) मन वचन काय से स्त्रीमात्र का त्याग करना सो ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। (८) खेती व्यापार आदि आरंभ क्रियाओं का त्याग करना सो आरंभत्याग प्रतिमा है। (९) धनधान्यादि परिग्रह से विरक्त होना सो परिग्रहत्याग प्रतिमा है। (१०) खेती व्यापारादि तथा विवाहादि लौकिक कार्यों में अनुमति न देना सो अनुमतित्याग प्रतिमा है। (११) वन में तप करते हुए रहना, भिक्षावृत्ति से आहार लेना, और खण्डवस्त्र धारण करना सो उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।

गाथा— पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥ २३ ॥

छाया— पंचैव अणुव्रतानि गुणव्रतानिभवन्ति तथा त्रीणि।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारं ॥ २३ ॥

अर्थ— पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह यह १२ प्रकार का सागार अर्थात् श्रावकों का संयमचरण चारित्र कहलाता है ॥ २३ ॥

गाथा— थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं॥ २४॥

छाया— स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां अदत्तस्थूले च।
परिहारः परमहिलायां परिग्रहारंभपरिमाणम्॥ २४॥

अर्थ— त्रस जीवों के घातरूप स्थूल हिंसा का त्याग सो अहिंसाणुव्रत है। स्थूल झूठ का त्याग सो सत्याणुव्रत है। स्थूल चोरी का त्याग सो अचौर्याणुव्रत है। परस्त्री का त्याग सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। तथा परिग्रह और आरम्भ का परिमाण सो परिग्रहापरिमाणाणुव्रत है। ये पांच अणुव्रत हैं॥ २४॥

गाथा— दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि॥ २५॥

छाया— दिग्विदिग्मानं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम्।
भोगोपभोगपरिमाणं इमान्येव गुणव्रतानि त्रीणि॥ २५॥

अर्थ— दिशा विदिशा में गमन का परिमाण करना सो दिग्व्रत नाम प्रथम गुणव्रत है। अनर्थ दण्ड का त्याग करना सो अनर्थदण्डत्याग नाम दूसरा गुणव्रत है। भोग और उपभोग का परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोग-परिमाण नामक गुणव्रत है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं॥ २५॥

गाथा— सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते॥ २६॥

छाया— सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधः भणितः।
तृतीयं च अतिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अन्ते॥ २६॥

अर्थ— राग द्वेष छोड़कर सब जीवों में समता भाव रखना सो सामायिक नाम पहला शिक्षाव्रत है। अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पाप का त्याग कर प्रोषधसहित उपवास करना सो प्रोषधोपवास नाम दूसरा शिक्षाव्रत है। मुनि त्यागी आदि को आहारादि देना सो अतिथि सत्कार नाम तीसरा शिक्षाव्रत है। अन्त समय में काय व कषायों का कृश करना सो सल्लेखना नाम चौथा शिक्षाव्रत है॥ २६॥

गाथा— एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २७ ॥

छाया— एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम् ।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥ २७ ॥

अर्थ— इस प्रकार श्रावक के धर्म सकलसंयम अर्थात् एकदेश संयम का उपदेश किया । अब यति के धर्म शुद्ध और निष्कल संयम अर्थात् पूर्णसंयम को कहूंगा ॥ २७ ॥

गाथा— पंचेदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु ।
पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ २८ ॥

छाया— पंचेन्द्रियसंवरणं पंच व्रताः पंचविंशतिक्रियासु ।
पंच समितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥ २८ ॥

अर्थ— पांच इन्द्रियों का जीतना, पांच व्रत, इनकी पच्चीस भावनाएं, पांच समिति और तीन गुप्ति यह निरागार अर्थात् मुनियों का संयम चरण चारित्र है ॥२८॥

गाथा— अमणुएणे य मणुएणे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥ २९ ॥

छाया— अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।
न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरः भणितः ॥ २९ ॥

अर्थ— इष्ट और अनिष्ट सजीव द्रव्य स्त्रीपुत्रादि तथा अजीवद्रव्य धनधान्यादि में जो रागद्वेष नहीं करता है सो पंचेन्द्रियजय कहलाता है ॥ २९ ॥

गाथा— हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥ ३० ॥

छाया— हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिः अदत्तविरतिश्च ।
तुर्यं अब्रह्मविरतिः पंचमं संगे विरतिश्च ॥ ३० ॥

अर्थ— हिंसा का सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है । असत्य का सर्वथा त्याग सो सत्य महाव्रत है । चोरी का सर्वथा त्याग सो अचौर्य महाव्रत है । कुशील का सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है । परिग्रह का सर्वथा त्याग सो परिग्रह त्याग महाव्रत है ॥ ३० ॥

गाथा— साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥ ३१ ॥

छाया— साधयन्ति यन्महान्तः आचरितं यत् महत्पूर्वैः।
यच्च महान्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः एतानि ॥ ३१ ॥

अर्थ— जिनको महापुरुष आचरण करते हैं, जो पहले महापुरुषों से आचरण किये गये हैं और जो स्वयं भी महान् हैं, इस लिये ये पांच महाव्रत कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

गाथा— वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥ ३२ ॥

छाया— वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः।
अवलोक्यभोजनेन अहिंसायाः भावना भवन्ति ॥ ३२ ॥

अर्थ— वचन को वश में करना सो वचन गुप्ति है। मन को वश में करना सो मनोगुप्ति है। चार हाथ आगे भूमि देख कर चलना सो ईर्यासमिति है। पीछी कमण्डलु आदि को देखभाल कर रखना और उठाना सो आदान-निक्षेपण समिति है। देखभाल कर विधिपूर्वक शुद्ध आहार करना सो एषणा समिति है। ये अहिंसा महाव्रत की ५ भावना हैं ॥ ३२ ॥

गाथा—कोहभयहासलोहा मोहाविवरीयभावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥३३॥

छाया—क्रोधभयहास्यलोभमोहविपरीतभावनाः चैव।
द्वितीयस्य भावना इमाः पंचैव च तथा भवन्ति ॥३३॥

अर्थ—क्रोध का त्याग, भय का त्याग, हंसी का त्याग, लोभ का त्याग और मिथ्यात्वभाव का त्याग ये सत्य महाव्रत की ५ भावना हैं ॥३३॥

गाथा—सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधंच।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

या—शून्यागारनिवासः विमोचितावासः यत्परोधंच।
एषणाशुद्धिसहितं साधर्मिसमविसंवादः ॥३४॥

अर्थ—सूने घर में रहना, छोड़े हुए घर में रहना, दूसरे को न रोकना, शुद्ध आहार लेना, अपने धर्म वालों से झगड़ा न करना ये अचौर्य महाव्रत की ५ भावना हैं ॥३४॥

गाथा—महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहि विकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओभावण पंचावि तुरयम्मि ॥३५॥

छाया—महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः ।
पौष्टिक रसैः विरतः भावनाः पंचापि तुर्ये ॥३५॥

अर्थ—स्त्रियों को रागभाव से देखना, पहले भोगे हुए भोगों को याद करना, बस्ती में रहना, स्त्रियों की कथा कहना, पौष्टिक भोजन करना इन पांचों विकार भावों का त्याग करना सो ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं हैं ॥३५॥

गाथा—अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥३६॥

छाया—अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
रागद्वेषदीनां परिहारो भावनाः भवन्ति ॥३६॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध इन पांच इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष का त्याग करना ये परिग्रह त्याग महाव्रत की पांच भावना हैं ॥३६॥

गाथा—इरियाभासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३७॥

छाया—ईर्या भाष एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पंच समितीः ॥३७॥

अर्थ—प्रमाद रहित सावधानी से आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्या समिति है। हितकारी परिमित प्रियवचन बोलना भाषा समिति है। दोष और अन्तराय टालकर कुलीन श्रावक के घर शुद्ध आहार लेना एषणा समिति है। शास्त्रपीछी कमण्डलु आदि देखभाल कर रखना व उठाना

आदान निक्षेपण समिति है। जन्तुरहित स्थान में मलमूत्र करना प्रतिष्ठापना समिति है। ये पांच समिति संयम की शुद्धता के लिये कारण हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं ॥३७॥

गाथा—भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाण सरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥३८॥

छाया—भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथाभणितं।
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥३८॥

अर्थ—जिन भगवान् ने जैन मार्ग में भव्य जीवों को समझाने के लिये जैसा ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप कहा है उस ज्ञान स्वरूप आत्मा को हे भव्य तू भलीभांति जान ॥३८॥

गाथा—जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासण मोक्खमग्गुत्ति ॥३९॥

छाया—जीवाजीवविभक्तं यः जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः।
रागादिदोषरहितः जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥३९॥

अर्थ—जो पुरुष जीव और अजीव का भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है तथा रागद्वेषादि दोषों से रहित होता है सो जिनशासन में मोक्षमार्ग बताया गया है ॥३९॥

गाथा—दंसणणाणचरित्तं तिण्णिवि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

छाया—दर्शनज्ञानचारित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया।
यत् ज्ञात्वा योगिनः अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥४०॥

अर्थ—हे भव्य ! तू दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों गुणों को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जान। जिसको जानकर योगी लोग शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥४०॥

गाथा— पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ४१ ॥

छाया— प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥ ४१ ॥

अर्थ — जो पुरुष ज्ञानरूपी जल को पीकर निर्मल और पवित्र भाव धारण करते हैं वे मोक्षरूपी महल में निवास करने वाले, तीनों लोक के शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ४१ ॥

गाथा— णाणगुणेहिं विहीणा ण लंहते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ ४२ ॥

छाया— ज्ञानगुणैः विहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभं।
इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥ ४२ ॥

अर्थ— जो पुरुष ज्ञानरहित हैं वे अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं करते हैं। ऐसा जानकर हे भव्य! तू गुण दोषों को जाननें के लिये सम्यग्ज्ञान को भली प्रकार जान ॥ ४२ ॥

गाथा— चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥ ४३ ॥

छाया— चारित्रसमारूढ आत्मनि परं न ईहते ज्ञानी।
प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥ ४३ ॥

अर्थ— जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र गुणसहित है वह आत्मा में परद्रव्य को नहीं चाहता है अर्थात् उनमें रागद्वेष नहीं करता है। तथा शीघ्र ही उपमारहित सुख को पाता है ऐसा निश्चयपूर्वक जानो ॥ ४३ ॥

गाथा— एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरायेण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥ ४४ ॥

छाया— एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण।
सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ— इस प्रकार वीतराग देव से ज्ञान के द्वारा कहे हुए सम्यक्त्व और संयम के आश्रयरूप सम्यक्त्वचरण और संयमचरण नामक दो प्रकार के चारित्र को आचार्य ने संक्षेप में उपदेश किया है ॥ ४४ ॥

गाथा— भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥ ४५ ॥

छाया— भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव ।
लघु चतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरेण अपुनर्भवाः भवत ॥ ४५ ॥

अर्थ— हे भव्यजीवो ! हमने यह चारित्र पाहुड़ प्रगट रूप से बनाया है, उसको तुम शुद्ध भावों से विचार करो । जिससे शीघ्र ही चारों गतियों को छोड़ कर फिर संसार में जन्मधारण न करो अर्थात् मोक्ष प्राप्त करो ॥ ४५ ॥

॥ (४) बोध पाहुड ॥

गाथा— बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥ १ ॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जहभणियं ।
वुच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणह ॥ २ ॥

छाया— बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।
वन्दित्वा आचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥ १ ॥
सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम् ।
वक्ष्यामि समासेन षट्कायसुखंकरं शृणु ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि मैं बहुत से शास्त्रों के अर्थ को जानने वाले, संयम और सम्यक्त्व से पवित्र तपश्चरण वाले, कषायरूपी मल से रहित और शुद्ध आचार्यों को नमस्कार करके, जिन भगवान के द्वारा जैनशास्त्र में छहकाय के जीवों को सुख देने वाला जैसा कथन किया गया है, उसी प्रकार सब जीवों को ज्ञान कराने के लिये बोधपाहुड नामक ग्रन्थ को संक्षेप से कहूंगा । हे भव्यजीव ! तू उसको सुन ॥ १-२ ॥

गाथा— आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥ ३ ॥
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥ ४ ॥

छाया— आयतनं चैत्यगृहं जिन प्रतिमा दर्शनं च जिनबिम्बम् ।
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मार्थम् ॥ ३ ॥
अर्हता सुदृष्टं यः देवः तीर्थमिह च अर्हन् ।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्याः यथाक्रमशः ॥ ४ ॥

अर्थ— आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, रागरहित जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मा के प्रयोजनरूप ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणों से पवित्र दीक्षा ये ग्यारह स्थान जैसे अरहन्त भगवान् ने कहे हैं उनको यथाक्रम से जानो ॥ ३-४ ॥

गाथा— मणवयणकायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥

छाया— मनोवचनकायद्रव्याणि आयत्ताः यस्य ऐन्द्रियाः विषयाः।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयत रूपम् ॥ ५ ॥

अर्थ— मन वचन काय रूप द्रव्य और पांच इन्द्रिय के विषय जिसके आधीन हैं ऐसे संयमी मुनि के रूप (देह) को जैनशास्त्र में आयतन कहा गया है ॥५॥

गाथा— मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥

छाया— मदः रागः द्वेषः मोहः क्रोधः लोभः च यस्य आयत्ताः।
पंचमहाव्रतधारी आयतनं महर्षिः भणितः ॥ ६ ॥

अर्थ— मद (घमण्ड), राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ जिसके बस में होगये हैं और जो पांच महाव्रतों को धारण करता है, ऐसा महामुनि धर्म का आयतन अर्थात् निवास स्थान कहा गया है ॥ ६ ॥

गाथा— सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥ ७ ॥

छाया— विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य मुनितार्थम् ॥ ७ ॥

अर्थ— विशुद्ध अर्थात् शुभध्यान करने वाले, केवल ज्ञानसहित और मुनियों में श्रेष्ठ, जिसके शुद्ध आत्मा की सिद्धि हो गई है, ऐसे समस्त पदार्थों को जानने वाले केवल ज्ञानी को सिद्धायतन कहा है ॥ ७ ॥

गाथा— बुद्धं जं बोहंवो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ८ ॥

छाया— बुद्धंयत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यच्च।
पंच महाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥ ८ ॥

अर्थ— जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप जानता हुआ दूसरे जीवों को चेतना स्वरूप जानता है। ऐसे पांच महाव्रतों से शुद्ध और ज्ञानस्वरूप मुनि को हे भव्य! तू चैत्यगृह जान ॥ ८ ॥

गाथा— चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥ ९ ॥

छाया— चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च आत्मकं तस्य।
चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—बन्ध, मोक्ष, सुख और दुःख के स्वरूप का जिस आत्मा को ज्ञान हो गया हो वह चैत्य है। उसका गृह (घर) चैत्यगृह कहलाता तथा जैनमार्ग में छहकाय के जीवों की भलाई करने वाला संयमी मुनि चैत्यगृह कहा गया है ॥ ९ ॥

गाथा— सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयरागा जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

छाया— स्वपरा जंगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्।
निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥ १० ॥

अर्थ— दर्शन और ज्ञान से निर्मल चारित्र वाले मुनियों का परिग्रह और रागद्वेष रहित अपना और दूसरे का जो चलता फिरता शरीर है सो जैनमार्ग में प्रतिमा कही गयी है ॥ १० ॥

गाथा—जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

छाया—यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥११॥

अर्थ—जो शुद्ध चारित्र का आचरण करता है, यथार्थ वस्तुओं को ठीक २ जानता है और शुद्ध सम्यक्त्वरूप आत्मा को देखता है, वह परिग्रहरहित संयमी मुनि का स्वरूप जंगम प्रतिमा है, तथा वही नमस्कार करने योग्य है ॥११॥

गाथा—दंसण अणंत णाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खाय ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥
निरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण ।
सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमाधुवा सिद्धा ॥१३॥

छाया—दर्शनं अनतं ज्ञानं अनन्तवीर्याः अनन्तसुखाः च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टकबन्धैः ॥१२॥
निरूपमा अचला अक्षोभाः निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्गप्रतिमाध्रुवाः सिद्धाः ॥१३॥

अर्थ—जो अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख सहित हैं, अविनाशी सुखस्वरूप हैं, देहरहित हैं, आठकर्मों के बन्धन से रहित हैं, उपमारहित हैं, चंचलतारहित हैं, अशान्तिरहित हैं, गमनरूप से बनाये गये हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, देहरहित और स्थिर हैं ऐसे सिद्ध-परमेष्ठी स्थावर अर्थात् अचल प्रतिमा हैं ॥१२-१३॥

गाथा—दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्त संयमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

छाया—दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।
निर्ग्रंथं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥१४॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वरूप, संयमरूप, उत्तमधर्मरूप, परिग्रहरहित और ज्ञानरूप मोक्षमार्ग को दिखाता है ऐसे मुनि के रूप को जैनसिद्धान्त में दर्शन कहा है ॥१४॥

गाथा—जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥

छाया—यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तत् घृतमयं चापि ।
तथा दर्शनं हि सम्यग्ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

अर्थ—जैसे फूल गन्धसहित होता है और दूध घी सहित होता है। वैसे ही दर्शन (सम्यक्त्व) अन्तरंग में तो सम्यग्ज्ञानरूप है और बहिरंग में मुनि, श्रावक और आर्यिका का भेष ही दर्शन है ॥१५॥

गाथा—जिणबिम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीतरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

छाया—जिनबिम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥१६॥

अर्थ—जो जिनसूत्र का जाननेवाला है, संयम से शुद्ध है, रागभावरहित है तथा जो कर्मों के नाश के कारण शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है, वह आचार्य जिनबिम्ब कहलाता है ॥१६॥

गाथा—तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स च दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥

छाया—तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां च विनयं वात्सल्यम् ।
यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥१७॥

अर्थ—जिसके निश्चय से दर्शन, ज्ञान और चेतना भाव है उस आचार्यरूप जिन-बिम्ब को प्रणाम करो, सब प्रकार से उसकी पूजा करो, सकी विनय करो, तथा उसी से शुद्ध प्रेम करो ॥१७॥

गाथा—तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

छाया—तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च ॥१८॥

अर्थ—जो तप, व्रत और उत्तरगुणों से शुद्ध है, सब पदार्थों को ठीक ठीक जानता है तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करता है, ऐसा आचार्य जिनबिम्ब है। वही दीक्षा और शिक्षा देने वाली अर्हन्त की मुद्रा है ॥१८॥

गाथा— दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसाभणिया ॥१९॥

छाया—दृढसंयममुद्रयाइन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

अर्थ—संयम को स्थिरता से धारण करना सो संयम मुद्रा है, इन्द्रियों को विषयों में न लगने देना सो इन्द्रिय मुद्रा है, कषायों के बस में न होना सो कषायमुद्रा है, ज्ञान के स्वरूप में लीन होना सो ज्ञानमुद्रा है। इनको धारण करनेवाले मुनि को जिनमुद्रा शब्द से कहा गया है ॥१९॥

गाथा—संजमसंजुत्तस्सय सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

छाया—संयमसंयुक्तस्य च सुध्यानयोग्यस्य मोक्षमार्गस्य।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥२०॥

अर्थ—संयमरहित, उत्तम ध्यान के योग्य मोक्षमार्ग का लक्ष्य (निशाना) आत्मा का स्वरूप ज्ञान से प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान को अवश्य जानना चाहिये ॥२०॥

गाथा—जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्य वेज्झय विहीणो।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

छाया—यथा नापि लभते स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेधकविहीनः।
तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥२१॥

अर्थ—जैसे धनुष विद्या के अभ्यास रहित पुरुष बाण के ठीक निशाने को नहीं पाता है। वैसे ही अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्ग के निशाने अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को नहीं पाता है ॥२१॥

गाथा—णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

छाया—ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषो ऽपि विनयसंयुक्तः।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य ॥२२॥

अर्थ—ज्ञान पुरुष के होता है और विनय सहित मनुष्य ज्ञान को पाता है तथा ज्ञान से ही मोक्षमार्ग के लक्ष्य (निशाने) परमात्मा के स्वरूप को विचारता हुआ मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है ॥२२॥

गाथा—मइधणुहं जस्स थिरं सुद गुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

छाया—मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतं गुणः वाणाः सुसन्ति रत्नत्रयम्।
परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥२३॥

अर्थ—जिसके पास मतिज्ञानरूप स्थिर (मजबूत) धनुष है, श्रुतज्ञानरूप डोरी है, रत्नत्रय रूपी अच्छे बाण हैं, और जिसने शुद्ध आत्मा के स्वरूप को निशाना बना लिया है, ऐसा मुनि मोक्षमार्ग से नहीं चूकता है ॥२३॥

गाथा—सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

छाया—स देवः यः अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।
स ददाति यस्य अस्ति अर्थः धर्मः च प्रव्रज्या ॥२४॥

अर्थ—जो जीवों को धर्म, अर्थ (धन), काम (भोग) और मोक्ष का कारण ज्ञान देता है वह देव है। क्योंकि जिसके पास जो चीज होती है वही दूसरे को देता है। इसलिये जिसके पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कारण दीक्षा हो, उसको देव जानना चाहिये ॥२४॥

गाथा—धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववयगमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

छाया धर्मः दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता।
देवः व्यपगतमोहः उदयकरः भव्यजीवानाम् ॥२५॥

अर्थ—जो दया से पवित्र है वह धर्म है और जो सब परिग्रहों से रहित है वह दीक्षा है तथा जो मोह रहित और भव्य जीवों की उन्नति करने वाला है वह देव है ॥२५॥

गाथा—वयसम्मत्त विसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाऊण मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

छाया—व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पंचेन्द्रियसंयते निरापेक्षे ।
स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षा शिक्षासुस्नानेन ॥२६॥

अर्थ—जो पांच महाव्रत और सम्यग्दर्शन से पवित्र है पांच इन्द्रियों को जीतने वाला है और इस लोक तथा परलोक के भोगों की इच्छा से रहित है ऐसे आत्मा रूप तीर्थ में मुनि को दीक्षा और शिक्षा रूप स्नान के द्वारा पवित्र होना चाहिये ॥२६॥

गाथा—जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण ॥२७॥

छाया—यत् निर्मलं सुधर्मं सम्यक्त्वं संयमं तपः ज्ञानम् ।
तत् तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

अर्थ—यदि शान्तभाव से निर्मल (दोष रहित) उत्तम क्षमादि धर्म, सम्यग्दर्शन, संयम, तप और ज्ञान आदि गुणों को धारण किया जाय तो इनको जैन दर्शन में असली तीर्थ बताया गया है ॥२७॥

गाथा—णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥

छाया—नाम्नि संस्थापनायां हि च सद्रव्ये भावे हि सगुणपर्यायाः ।
च्यवनमागतिः संपत् इमे भावा भावयन्ति अर्हन्तम् ॥२८॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इनसे गुण और पर्यायों के साथ अरहन्त जाने जाते हैं तथा च्यवन (स्वर्ग नरकादि से अवतार लेना), आगति (भरतादि क्षेत्रों में आना) सम्पत् (रत्नवृष्टि आदि) ये भाव अर्हन्तपने को जताते अर्थात् निश्चय कराते हैं ॥२८॥

गाथा—दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरूवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई ॥२९॥

छाया—दर्शनं अनन्तं ज्ञानं मोक्षः नष्टाष्टकर्मबन्धेन ।
निरूपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥२९॥

अर्थ—जिसके दर्शन और ज्ञान अनन्त हैं, स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध की अपेक्षा आठों कर्मों का बन्ध नष्ट होने से भावमोक्ष प्राप्त हो गया है तथा उपमा रहित [बेमिसाल] गुणों को धारण करता है, ऐसा शुद्ध आत्मा नाम अर्हन्त कहलाता है ॥२९॥

गाथा—जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

छाया—जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्यं पापं च ।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयश्चार्हन् ॥३०॥

अर्थ—जो बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चारों गतियों में गमन, पुण्य और पाप प्रकृतियों का उदय तथा रागद्वेषादि दोषों को नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है वह सर्वज्ञ वीतराग नाम अर्हन्त कहलाता है ॥३०॥

गाथा— गुणठाणमग्गणेहिंय पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥ ३१ ॥

छाया— गुणस्थानमार्गणाभिः च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।
स्थापना पंचविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ— गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवसमास इस तरह ५ प्रकार से अर्हन्त पुरुष की स्थापना करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

गाथा— तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥ ३२ ॥

छाया— त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिकः भवति अर्हन् ।
चतुस्त्रिंशत् अतिशयगुणा भवन्ति स्फुटं तस्याष्टप्रातिहार्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— तेरहवें गुणस्थान में योगसहित केवल ज्ञानी अरहन्त होता है। उसके स्पष्टरूप से ३४ अतिशय रूप गुण और ८ प्रातिहार्य होते हैं। इस तरह गुणस्थान की अपेक्षा अरहन्त की स्थापना जानना॥

गाथा— गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥ ३३॥

छाया— गतौ इन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे॥ ३३॥

अर्थ - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इन १४ मार्गणाओं में अर्हन्त की स्थापना जाननी चाहिये॥ ३३॥

गाथा— आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो॥ ३४॥

छाया— आहारः च शरीरं इन्द्रियं मनः आनप्राणः भाषा च।
पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवः भवति अर्हन्॥ ३४॥

अर्थ— आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास और भाषा इन ६ पर्याप्तिरूप गुणों से परिपूर्ण उत्तमदेव अरहन्त होता है। यह पर्याप्ति की अपेक्षा अर्हन्त की स्थापना है॥ ३४॥

गाथा— पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा॥ ३५॥

छाया— पंच अपि इन्द्रियप्राणाः मनोवचनकायैः त्रयो बलप्राणाः।
आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः॥ ३५॥

अर्थ— स्पर्शनादि पांच इन्द्रिय, मन वचन काय तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये १० प्राण होते हैं। इस तरह प्राण की अपेक्षा अर्हन्त की स्थापना है।

गाथा— मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥ ३६ ॥

छाया— मनुजभवे पंचेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।
एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥ ३६ ॥

अर्थ— मनुष्य गति में पंचेन्द्रिय नामका चौदहवां जीवसमास है। उसमें इन गुणों के समूह सहित तेरहवें गुणस्थान का धारी मनुष्य अर्हन्त कहलाता है ॥३६

गाथा— जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥ ३७ ॥

दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधवलं मंसं रूहिरं च सव्वंगे ॥ ३८ ॥

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥ ३९ ॥

छाया— जराव्याधिदुःखरहितः आहारनीहारवर्जितः विमलः ।
सिंहाणः खेदः स्वेदः नास्ति दुर्गन्धश्च दोषश्च ॥ ३७ ॥

दश प्राणाः पर्याप्तयः अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि ।
गोक्षीरशंखधवलं मांसं रूधिरं च सर्वाङ्गे ॥ ३८ ॥

ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
औदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अर्हत्पुरुषस्य ॥ ३९ ॥

अर्थ— जो बुढ़ापा, रोग आदि दुःखों मे रहित है, आहार तथा मलमूत्र रहित है और जिसमें सिंहाण (नाक का मैल), थूक, पसीना, दुर्गन्ध आदि दोष नहीं हैं ।

जिसमें १० प्राण, ६ पर्याप्ति और १००८ लक्षण बताये गये हैं। तथा जिसमें सब जगह कपूर और शंख के समान सफेद खून और मांस है ।

ऐसे सब गुण और अतिशय वाला तथा अत्यन्त सुगन्धित औदारिक शरीर अरहन्त पुरुष के समझना चाहिये । इस प्रकार द्रव्य अरहन्त का वर्णन किया ॥ ३७-३८-३९ ॥

गाथा— मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ ४० ॥

छाया— मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितः च सुविशुद्धः ।
चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥ ४० ॥

अर्थ— केवल ज्ञान रूप भाव होने पर अरहन्त मद (घमण्ड), राग, द्वेषरहित, कषायरूप मलरहित, अत्यन्त निर्मल तथा मन के विकल्प रहित होता है । ऐसा भाव अरहन्त जानना चाहिये ॥ ४० ॥

गाथा— सम्मदंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥ ४१ ॥

छाया— सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥ ४१ ॥

अर्थ— अरहन्त परमेष्ठी सम्यग्दर्शन गुण से अपने और दूसरे के स्वरूप को देखता है, ज्ञान गुण से सब द्रव्य और पर्यायों को जानता है, तथा जो सम्यक्त्व गुण से पवित्र है, ऐसा अरहन्त का भाव जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

गाथा— सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥ ४२ ॥

सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं ।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥ ४३ ॥

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥ ४४ ॥

छाया— शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मशानवासे वा ।
गिरिगुहायां गिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥४२॥

स्ववशासक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालयत्रिकं च उक्तैः ।
जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा वदन्ति ॥ ४३ ॥

पंचमहाव्रतयुक्ताः पंचेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभाः नीच्छन्ति ॥ ४४ ॥

अर्थ— सूने घर में, वृक्ष की जड़ (खोखल) में, उपवन में, श्मशान में, पहाड़ की गुफा में, पहाड़ की चोटी पर, भयानक वन में और वसतिका में दीक्षा-सहित मुनि रहते हैं ॥ ४२ ॥

स्वाधीन मुनियों के निवास रूप तीर्थ, उनके नाम के अक्षर रूप वच, उनकी प्रतिमारूप चैत्य, प्रतिमाओं की स्थापना का स्थान रूप आलय (मन्दिर) और कहे हुये आयतनादि के साथ जिनभवन (अकृत्रिम चैत्यालय) आदि को जिनशासन में जिनेन्द्रदेव वैद्य अर्थात् मुनियों के विचारने योग्य पदार्थ कहते हैं ॥ ४३ ॥

पांच महाव्रतसहित, पांच इन्द्रियों को जीतने वाले, इच्छारहित तथा स्वाध्याय और ध्यानसहित श्रेष्ठ मुनि ऊपर कहे हुए स्थानों को निश्चय से चाहते हैं ॥ ४४ ॥

गाथा—गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

छाया—गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषायाः ।
पापारंभविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४५॥

अर्थ—जो घर के निवास और परिग्रह के मोह से रहित है, जिसमें बाईस परीषह सही जाती हैं, कषायों को जीता जाता है और पाप के आरम्भ से रहित है, ऐसी दीक्षा जिनदेव ने कही है ॥४५॥

गाथा—धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं ।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

छाया—धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि ।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४६॥

अर्थ—जो धन (गाय), धान्य (अन्न), वस्त्रादि के दान, सोना, चांदी, शय्या, आसन, छत्र, चमर आदि खोटे दान से रहित है, ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४६॥

गाथा—सत्तुमित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

छाया—शत्रौ मित्रे च समा प्रशंसा निन्दा अलब्धिलब्धिसमा।
तृणे कनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

अर्थ—जहां शत्रु और मित्र में, प्रशंसा और निन्दा में, लाभ और हानि में तथा तिनके और सोने में समानभाव रहता है, ऐसी दीक्षा कही गई है ॥

गाथा— उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थगिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

छाया— उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे च निरपेक्षा।
सर्वत्र गृहीतपिंडा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४८ ॥

अर्थ— जहां उत्तम और मध्यम घर में, दरिद्र और धनवान् में कोई भेद नहीं है, तथा सब जगह समानभाव से आहार ग्रहण किया जाता है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ४८ ॥

गाथा— णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४९ ॥

छाया— निर्ग्रन्था निःसंगा निर्मानाशा अरागा निर्द्वेषा।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४९ ॥

अर्थ— जो परिग्रह रहित है, स्त्री आदि पर पदार्थ के सम्बन्ध से रहित है, मान कषाय और भोगों की आशा से रहित है, राग रहित है, द्वेष रहित है, मोहरहित और अहंकार रहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ४९ ॥

गाथा— णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

छाया— निःस्नेहा निर्लोभा, निर्मोहा निर्विकारा निष्कलुषा।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ५० ॥

अर्थ— जो पर पदार्थों में राग रहित, लोभरहित, मोहभाव रहित, विकार रहित, मलिनता रहित, भय रहित और आशा के भावों से रहित है ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ५० ॥

गाथा— जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५१ ॥

छाया— यथाजातरूपसदृशा अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ता ।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ५१ ॥

अर्थ— जिसमें नग्नरूप धारण किया जाता है, कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान किया जाता है, जो शस्त्र रहित है, शान्तमुद्रा सहित है और जहां दूसरे के बनाये हुए वसतिका आदि में निवास किया जाता है, ऐसी जिन दीक्षा बताई गई है ॥ ५१ ॥

गाथा— उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रूक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५२ ॥

छाया— उपशमक्षमदमयुक्ता शरीरसंस्कारवर्जिता रूक्षा ।
मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ५२ ॥

अर्थ— जो कर्मों के उपशम (फल न देना), क्षमा (क्रोध न करना), दम (इन्द्रियों को जीतना) आदि परिणाम सहित है, शरीर के संस्कार (सजावट) रहित है, तेल आदि के लेपरहित है, मद, राग और द्वेष रहित है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है ॥ ५२ ॥

गाथा— विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वजा एरिसा भणिया ॥ ५३ ॥

छाया— विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा ।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ५३ ॥

अर्थ— जिसका अज्ञानभाव दूर हो गया है, जिसमें आठों कर्मों का नाश हो गया है, और सम्यग्दर्शन रूप गुण से निर्मल है, ऐसी जिन दीक्षा बताई गई है ॥ ५३ ॥

गाथा— जिणमग्गे पवज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ ५४ ॥

छाया— जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था।
भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥ ५४ ॥

अर्थ— जिन शासन में छहों संहनन वालों के जिन दीक्षा कही गई है। वह परिग्रहरहित है और कर्मों के नाश का कारण बताई गई है। ऐसी दीक्षा को भव्य पुरुष स्वीकार करते हैं ॥ ५४ ॥

गाथा— तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥ ५५ ॥

छाया— तिलतुषमात्रनिमित्तसमः बाह्यग्रंथसंग्रहः नास्ति।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ— जिसमें तिलतुषमात्र परिग्रह का कारण रागभाव और तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रह का ग्रहण नहीं है, ऐसी दीक्षा सर्वज्ञदेव के द्वारा कही गई है ॥५५

गाथा— उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरूहइ सव्वत्थ ॥ ५६ ॥

छाया— उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठति।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ॥

अर्थ— उपसर्ग और परीषहों को सहने वाले दीक्षा सहित मुनि हमेशा निर्जन (मनुष्य रहित) स्थान में रहते हैं। तथा वहां भी शिला (पत्थर), काष्ठ (लकड़ी) और भूमि (जमीन) पर बैठते हैं ॥ ५६ ॥

गाथा—पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

छाया—पशुमहिलाषण्ढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५७॥

अर्थ—जिसमें पशु, स्त्री, नपुंसक और व्यभिचारी पुरुषों को संगति नहीं की जाती, स्त्री कथा आदि खोटी कथा नहीं कही जाती तथा जो स्वाध्याय और ध्यान सहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है ॥५७॥

गाथा—तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

छाया—तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५८॥

अर्थ—जो १२ तप, ५ महाव्रत और ८४ लाख उत्तर गुणों से शुद्ध है, संयम, सम्यक्त्व और मूलगुणों से शुद्ध है तथा जो दीक्षा के गुणों से शुद्ध है, ऐसी शुद्ध दीक्षा कही गई है ॥५८॥

गाथा—एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

छाया—एवं आत्मत्वगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे।
निर्ग्रन्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥५९॥

अर्थ—इस प्रकार आत्मभावना के गुणों से परिपूर्ण दीक्षा निर्मल सम्यक्त्व सहित और परिग्रह रहित जैसी जिनमार्ग में प्रसिद्ध है, वैसी संक्षेप से कही गई ॥५९॥

गाथा—रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहितंकरं उत्तं ॥६०॥

छाया—रूपस्थं शुद्ध्यर्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम्।
भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं उक्तम् ॥६०॥

अर्थ—जिन भगवान् ने जिन शासन में कर्मों के क्षयरूप शुद्धि के लिये जैसा निर्ग्रन्थ रूप मोक्षमार्ग कहा है, छहकाय के जीवों का हित करने वाले उस मार्ग को मैंने भव्य जीवों को समझाने के लिये कथन किया ॥६०॥

गाथा—सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

छाया—शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितम्।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥६१॥

अर्थ—शब्द के विकार से उत्पन्न हुआ जैसा शास्त्र भाषा सूत्रों में जिनेन्द्रदेव ने कहा है, श्रीभद्रबाहु के शिष्य विशाखाचार्य के द्वारा जाना हुआ वैसा ही अर्थ हमने कहा है, अपनी बुद्धि से कल्पना करके नहीं कहा है ॥६१॥

गाथा—बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

छाया—द्वादशांगविज्ञानः चतुर्दशपूर्वांगविपुलविस्तरणः।
श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरूः भगवान् जयतु ॥६२॥

अर्थ—द्वादशांग के जानने वाले, १४ पूर्वों के बड़े विस्तार को समझने वाले, सूत्र के अर्थ को यथार्थ रूप से जानने वालों में प्रधान, श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहु जयवन्त हों ॥६२॥

(५) भावपाहुड़

गाथा— णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥

छाया— नमस्कृत्य जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान् ।
वक्ष्यामि भावप्राभृतमवशेषान् संयतान् शिरसा ॥ १ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि मैं चक्रवर्ती, इन्द्र और धरणेन्द्र आदि से नमस्कार करने योग्य अरहन्तों को, सिद्धों को तथा शेष आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं को इस प्रकार पांचों परमेष्ठियों को मस्तक से नमस्कार करके भावप्राभृत नामक ग्रन्थ को कहूंगा ॥

गाथा— भावोहि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ २ ॥

छाया— भावो हि प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानीहि परमार्थम् ।
भावः कारणभूतः गुणदोषाणां जिना विदन्ति ॥ २ ॥

अर्थ— जिन दीक्षा का प्रथम चिन्ह भाव ही है, इस लिये हे भव्य ! तू द्रव्यलिंग को परमार्थरूप मत जान, क्योंकि गुण और दोषों के उत्पन्न होने का कारण भाव ही है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं ।

गाथा— भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥

छाया— भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
बाह्यत्यागः विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥ ३ ॥

अर्थ— आत्मा के भावों को शुद्ध करने के लिये धनधान्यादि बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, इस लिये रागद्वेषादि अन्तरङ्ग परिग्रह सहित जीव के बाह्य परिग्रह का त्याग व्यर्थ ही है।

गाथा— भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥ ४ ॥

छाया— भावरहितः न सिद्धयति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटी।
जन्मान्तराणि बहुशः लम्बितहस्तः गलितवस्त्रः ॥ ४ ॥

अर्थ— आत्मा की भावनारहित जीव यदि करोड़ों जन्म तक भुजाओं को लटका कर तथा वस्त्रों को त्याग तपश्चरण भी करे तो भी वह मोक्ष नहीं पाता हैं। इस लिये भाव ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य कारण है॥

गाथा— परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहिरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

छाया— परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् चयदि।
बाह्यग्रन्थत्यागः भावविहीनस्य किं करोति ॥ ५ ॥

अर्थ— यदि जिन लिंगधारी मुनि अशुद्ध परिणाम होते हुए बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, तो आत्मा की भावनारहित मुनि का वह बाह्य परिग्रह का त्याग कर्मों की निर्जरा आदि किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं करता है॥

गाथा— जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय! सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥

छाया— जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेन भावरहितेन।
पथिक! शिवपुरीपन्थाः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥ ६ ॥

अर्थ— हे पथिक! शिवपुरी का मार्ग जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बताया गया भाव ही है, इसलिए तू भाव ही को मोक्ष का मुख्य कारण जान। क्योंकि भावरहित द्रव्यलिंग (नग्नमुद्रा) धारण करने से तेरा क्या कार्य सिद्ध हो सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं॥

गाथा— भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

छाया— भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रन्थरूपाणि ॥ ७ ॥

अर्थ— हे सत्पुरुष ! आत्मस्वरूप की भावनारहित तूने अनादि काल से इस अनन्त संसार में बाह्य निर्ग्रन्थरूप (द्रव्यलिंग) अनेक बार ग्रहण किये और छोड़े हैं ॥

गाथा— भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइये ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥

छाया— भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः ।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावनां जीव ! ॥ ८ ॥

अर्थ— हे जीव ! तू नें भयानक नरकगति में, तिर्यञ्चगति में, नीच देवों और नीच मनुष्यों में बहुत कठोर दुःख पाये हैं । इसलिए अब तू आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन कर, जिससे तेरे सांसारिक दुःखों का अन्त हो ॥ ८ ॥

गाथा— सत्तसु णरयावासे दारूणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतरं सहियाइं ॥ ९ ॥

छाया— सप्तसु नरकावासेषु दारूणभीषणानि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरन्तरं सोढानि ॥९॥

अर्थ— हे जीव ! तूने सात नरकभूमियों के बिलों में बहुत भयानक और न सहने योग्य दुःख बहुत समय तक लगातार भोगे और सहे ॥ ९ ॥

गाथा— खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १० ॥

छाया— खननोत्तापनज्वालनव्यजनविच्छेदनानिरोधं च ।
प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरं कालम् ॥ १० ॥

अर्थ— हे जीव ! आत्मा की भावना रहित तूने तिर्यञ्च गति में बहुत काल तक अनेक दुःख पाये ॥

भावार्थ—पृथ्वीकाय में कुदाल फावड़ा आदि से खोदने से, जलकाय में तपाने से, अग्निकाय में बुझाने से, वायुकाय में हिलाने फटकारने से, वनस्पति काय में छेदने, पकाने से, और त्रसकाय में मारने बांधने आदि से बहुत दुःख पाये ।। १० ।।

गाथा — आगन्तुक माणसियं सहजंसारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ।। ११ ।।

छाया— आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि ।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोऽसि अनन्तकं कालम् ॥ ११ ॥

अर्थ— हे जीव ! तूने मनुष्य गति में अनन्त काल तक आगन्तुक आदि चार प्रकार के दुःख पाये हैं ॥

भावार्थ—अकस्मात् बिजली गिरने आदि के दुःख को आगन्तुक कहते हैं। इच्छित वस्तु न मिलने पर जो दुःख होता है उसे मानसिक कहते हैं। ज्वरादि रोगों के दुःख को सहज कहते हैं। तथा शरीर के छेदने आदि के दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं। इस प्रकार अनेक दुःख मनुष्य गति में प्राप्त होते हैं।

गाथा— सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ ।। १२ ।।

छाया— सुरनिलयेषु सुराप्सरावियोगकाले च मानसं तीव्रम् ।
संप्राप्तोऽसि महायशः ! दुःखं शुभभावनारहितः ।। १२ ॥

अर्थ— हे महायश के धारक ! तूने उत्तम भावना रहित होकर स्वर्गलोक में देव और देवियों के वियोग होने पर बहुत अधिक मानसिक दुःख पाया ।।१२॥

गाथा— कंदप्पमाइयाओ पंचवि असुहादिभावणाई य ।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १३ ॥

छाया— कान्दर्पीत्यादीः पंचापि अशुभादिभावनाः च ।
भावयित्वा द्रव्यलिंगी प्रहीणदेवः दिवि जातः ।। १३ ॥

अर्थ—हे जीव ! तू द्रव्यलिंगी होकर कान्दर्पी, किल्विषिकी, संमोही, दानवी और आभियोगिकी आदि पांच अशुभ भावनाओं का चिन्तवन करके स्वर्गलोक में नीच देव हुआ ।। १३ ॥

गाथा— पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ १४ ॥

छाया— पार्श्वस्थभावनाः अनादिकालं अनेकवारान् ।
भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः ॥ १४ ॥

अर्थ— हे जीव ! तूने अनादिकाल से अनन्त बार पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारी आदि भावनाओं का चिन्तवन करके खोटी भावनाओं के परिणामरूप बीजों से बहुत दुःख पाया ॥ १४ ॥

गाथा— देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ॥ १५ ॥

छाया— देवानां गुणान् विभूतीः ऋद्धीः माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा ।
भूत्वा हीनदेवः प्राप्तः बहु मानसं दुःखम् ॥ १५ ॥

अर्थ— हे जीव ! तूने नीच देव होकर अन्य बड़ी ऋद्धि वाले देवों के गुण (अणिमादि), विभूति (धनादि), और ऋद्धि (इन्द्राणी आदि) की महिमा को बहुत प्रकार देख कर बहुत अधिक मानसिक दुःख पाया ॥१५॥

गाथा—चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ॥ १६ ॥

छाया— चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।
भूत्वा कुदेवत्त्वं प्राप्तः असि अनेकवारान् ॥ १६ ॥

अर्थ— हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथाओं (स्त्री, भोजन, राज, चोर) में आसक्त होकर, आठ मदों से उन्मत्त होकर, और अशुभ भावनाओं का प्रयोजन धारण करके अनेक बार भवनवासी आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥

गाथा— असुहीबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥ १७ ॥

छाया— अशुचिबीभत्सासु च कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु ।
उषितोऽसि चिरं कालं अनेक जननीनां मुनिप्रवर ! ॥ १७ ॥

अर्थ— हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम अनेक माताओं के अपवित्र, घिनावने और पापरूप मल से मलिन गर्भ स्थानों में बहुत समय तक रहे हो ॥ १७ ॥

गाथा— पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहियपरं ॥ १८ ॥

छाया— पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् ।
अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥ १८ ॥

अर्थ— हे महायश वाले मुनि ! तुमने अनन्त जन्मों में भिन्न २ माताओं के स्तन का दूध इतना अधिक पीया कि यदि वह इकट्ठा किया जाय तो समुद्र के जल से भी बहुत अधिक हो जाय ॥

गाथा— तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रूण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १९ ॥

छाया— तव मरणे दुःखेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम् ।
रूदितानां नयननीरं सागरसलिलात्तु अधिकतरम् ॥ १९ ॥

अर्थ— हे मुनि ! तुम्हारे मरने के दुःख से भिन्न २ जन्मों में भिन्न २ माताओं के रोने से उत्पन्न आंखों के आंसू यदि इकट्ठे किये जायं तो समुद्र के जल से भी अनन्तगुणे हो जायं ॥ १९ ॥

गाथा— भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी ।
पुंजइ जइ कोवि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥ २० ॥

छाया— भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितकेशनखरनालास्थीनि ।
पुञ्जयति यदि कोऽपि देवः भवति च गिरिसमधिका राशिः ॥ २० ॥

अर्थ-- हे मुनि ! इस अनन्त संसार समुद्र में तुम्हारे शरीर के कटे और छोड़े हुए बाल, नाखून, नाल और हड्डी आदि को यदि कोई देव इकट्ठा करे तो मेरू पर्वत से ऊंचा ढेर जाय ॥ २० ॥

गाथा—जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो ।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥

छाया—जलस्थलशिखिपवनाम्बरगिरिसरिद्दरीतरुवनादिषु सर्वत्र ।
उषितोऽसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्ये ऽनात्मवशः ॥२१॥

अर्थ—हे जीव ! तूने आत्मभावना के बिना पराधीन होकर तीन लोक में जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष और वन आदि सभी स्थानों में बहुत काल तक निवास किया ॥२१॥

गाथा—गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजतो ॥२२॥

छाया—ग्रसिताः पुद्गलाः भुवनोदरवर्तिनः सर्वे ।
प्राप्तोऽसि तन्न तृप्तिं पुनारूपं तान् भुञ्जानः ॥२२॥

अर्थ—हे जीव ! तूने इस लोक में स्थित सभी पुद्गल परमाणुओं को भक्षण (ग्रहण) किया तथा उनको बार २ भोगता हुआ भी सन्तुष्ट नहीं हुआ ॥२१॥

गाथा—तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाये पीडिएण तुमे ।
तोवि ण तिण्हाच्छेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

छाया—त्रिभुवन सलिलं सकलं पीतं तृष्णया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णाछेदो जातः चिन्तय भवमथनम् ॥२३॥

अर्थ—हे जीव ! तूने तृष्णा (प्यास) से दुःखी होकर तीनों लोकों का सारा जल पी लिया तो भी तेरी तृष्णा (प्यास) नहीं मिटी। इसलिए संसार का नाश करने वाले रत्नत्रय का विचार कर ॥२३॥

गाथा—गहि उज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीरः ॥२४॥

छाया—गृहीतोज्झितानि मुनिवर कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर ! ॥२४॥

अर्थ—हे धीर ! मुनिवर ! तूने इस अनन्त संसार समुद्र में जो अनेक शरीर ग्रहण किये और छोड़े हैं उनकी कोई गिनती नहीं है ॥२४॥

गाथा—विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारूस्ससाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहि विविहेहिं ॥२६॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥२७॥

छाया—विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानाम् ।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥२५॥

हिमज्वलनसलिलगुरूतरपर्वततरूरोहणपतनभङ्गैः ।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥२६॥

इति तिर्यग्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उत्पद्य बहुवारम् ।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तो ऽसि त्वं मित्र ! ॥२७॥

अर्थ—हे मित्र ! तूने तिर्यञ्च और मनुष्य गति में उत्पन्न होकर अनादि काल से बहुत बार अकाल मृत्यु का अति कठोर दुःख पाया । आयु समाप्त होने से पहले बाह्य कारणों से शरीर छूट जाना अकाल मृत्यु है। अकाल मृत्यु के निम्नलिखित कारण होते हैं:—

विष, तीव्र पीड़ा, रुधिर का नाश, भय, शस्त्रघात, संक्लेशपरिणाम, आहार न मिलना, श्वास का रुकना, बर्फ, अग्नि, जल, बड़े पर्वत अथवा वृक्ष पर चढ़ते समय गिरना, शरीर का नाश, रस बनाने की विद्या के प्रयोग से और अन्याय के कामों से आयु का क्षय होता है ॥२५-२६-२७॥

गाथा—छत्तीसंतिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुतमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

छाया—षट्त्रिंशत् त्रीणि शतानिषट्षष्टिसहस्रवारमरणानि ।
अन्तर्मुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥२८॥

अर्थ—हे आत्मा ! तू निकोत अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ बार मृत्यु को प्राप्त हुआ ।।२८।।

भावार्थ—जो जीव अपने २ योग्य पर्याप्ति पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्त में मर जाता है उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं ।

गाथा—वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतो मुहुत्तस्स ।।२६।।

छाया—विकलेन्द्रियाणामशीतिः षष्टि चत्वारिंशदेव जानीहि ।
पंचेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिः क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्तस्य ।।२६।।

अर्थ—हे आत्मा ! अन्तर्मुहूर्त के इन क्षुद्रभवों में द्वीन्द्रियों के ८०, त्रीन्द्रियों के ६०, चतुरिन्द्रियों के ४० और पंचेन्द्रियों के २४ भव होते हैं, ऐसा तू जान ।।२६।।

गाथा—रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणिओ तं रयणत्तय समायरह ।।३०।।

छाया—रत्नत्रये अलब्धे एवं भ्रमितो ऽसि दीर्घसंसारे ।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ।।३०।।

अर्थ—हे जीव ! तूने रत्नत्रय प्राप्त न होने से इस प्रकार अनादि संसार में भ्रमण किया, इसलिये तू रत्नत्रय को धारण कर ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।।३०।।

गाथा—अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवे इफुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति ।।३१।।

छाया—आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः ।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रमार्ग इति ।।३१।।

अर्थ—रत्नत्रय दो प्रकार का है निश्चय और व्यवहार । यहां निश्चय रत्नत्रय का वर्णन करते हैं । जो आत्मा आत्मा में लीन होता है अर्थात् आत्मानुभव रूप श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है । जो आत्मा को यथार्थ रूप

से जानता है सो सम्यग्ज्ञान है। जो आत्मा में लीन होकर आचरण करता है तथा रागद्वेष का त्याग करता है सो सम्यक् चारित्र है ॥३१॥

गाथा—अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥३२॥

छाया—अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतोऽसि।
भावय सुमरणमरणं जरामरणविनाशनं जीव ! ॥३२॥

अर्थ—हे जीव ! तू अन्य अनेक जन्मों में कुमरणमरण से मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसलिये अब तू जरामरणादि का नाश करने वाले सुमरणमरण का विचार कर ॥३२॥

गाथा—सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥३३॥

छाया—स नास्ति द्रव्यश्रयणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः।
यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

अर्थ—इस तीन लोक प्रमाण लोकाकाश में ऐसा कोई परमाणुमात्र भी स्थान नहीं है जहां इस जीव ने द्रव्यलिंग धारण कर जन्म और मरण नहीं पाया ॥३३॥

गाथा—कालमणंतं जीवो जम्मजरारमणपीडिओ दुक्खं।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥३४॥

छाया—कालमनन्तं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम्।
जिनलिंगेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

अर्थ—इस जीव ने वर्धमान स्वामी से लेकर केवली श्रुतकेवली और दिगम्बर आचार्यों की परम्परा से उपदेश किये हुए भावलिंग के परिणाम रहित द्रव्यलिंग के द्वारा अनन्त काल तक जन्म जरा और मरण से पीड़ित होकर दुःख ही पाया ॥३४॥

गाथा—पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामकालट्ठं।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीवो ॥३५॥

छाया—प्रतिदेशसमयपुद्गलायुः परिणामनामकालस्थम् ।
'गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीवः ॥३५॥

अर्थ—इस जीव ने इस अनन्त संसार समुद्र में लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में, समय में, पुद्गल परमाणु में, आयु में, रागद्वेषादि परिणाम में, गति जाति आदि नामकर्म के भेदों में, उत्सर्पिणी आदि काल में स्थित अनन्त शरीरों को अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा ॥३५॥

गाथा—तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ ण ढुरूढुल्लिओ जीवो ॥ ३६ ॥

छाया—त्रिचत्वारिंशत् त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणम् ।
मुक्त्वा ऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥ ३६ ॥

अर्थ—३४३ राजू प्रमाण लोकक्षेत्र में मेरू के नीचे आठ प्रदेशों को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ अथवा मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ ॥३६॥

गाथा—एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं ।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

छाया—एकैकांगुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानीहि मनुष्याणाम् ।
अवशेषे च शरीरे रोगाः भण कियन्तः भणिताः ॥३७॥

अर्थ—मनुष्यों के शरीर में एक-एक अंगुल प्रदेश में ९६-९६ रोग होते हैं। तो बताओ शेष समस्त शरीर में कितने रोग कहे जा सकते हैं, हे जीव ! तू इसको भली प्रकार जान ॥३७॥

गाथा— ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किंवा बहुएहिं लविएहिं ॥ ३८ ॥

छाया— ते रोगा अपि च सकलाः सोढास्त्वया परवशेण पूर्वभवे ।
एवं सहसे महायशः ! किंवा बहुभिः लपितैः ॥ ३८ ॥

अर्थ— हे महायश के धारक मुनि ! तू ने वे पहले कहे हुए सब रोग पूर्व भव में कर्मों के आधीन होकर सहे, और अब तू उनको इस प्रकार सहता है ।

बहुत कहने से क्या लाभ है अर्थात् यदि तू अपनी इच्छा से उनको सहेगा तो कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥

गाथा— पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरूहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ ३६ ॥

छाया— पित्तांत्रमूत्रफेफसयकद्रुधिरखरिसक्रमिजाले ।
उदरे वसितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः ॥ ३६ ॥

अर्थ— हे मुनि ! तूने पित्त, आंत, मूत्र, तिल्ली, जिगर, रूधिर, खारिस (बिना पके खून से मिला बलग़म) और कीड़ों के समूह से भरे हुए अपवित्र उदर में अनन्त बार पूरे नौ नौ दस दस महीने तक निवास किया ॥ ३६ ॥

गाथा— दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते ।
छद्दिखरिसाणमज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥ ४० ॥

छाया— द्विजसंस्थितमशनं आहृत्य मातृभुक्तमन्नांते ।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः ॥ ४० ॥

अर्थ— हे जीव ! तूने माता के पेट में दांतों के समीप स्थित और माता के खाने के बाद उसके खाए हुए अन्न को खाकर बमन (उल्टी) और खरिस (बिना पके रूधिर से मिले बलग़म) के बीच में निवास किया ॥ ४० ॥

गाथा— सिसुकाले य अमाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं ।
असुई असिआ बहुसो मुणिवर ! बालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

छाया— शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लोलितोऽसि त्वम् ।
अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥ ४१ ॥

अर्थ— हे मुनिवर ! तू अज्ञानमयी बाल्य अवस्था में अपवित्र स्थान में लोटा है । तथा बालकपन के कारण ही बहुत बार अपवित्र वस्तु (मलमूत्रादि) खा चुका है ॥ ४१ ॥

गाथा—मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं ।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

छाया—मांसास्थिशुक्रश्रोणितपित्तांत्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् ।
खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

अर्थ—हे मुनि ! तू इस शरीर रूपी घड़े का स्वरूप विचार, जो मांस, हड्डी, वीर्य, रुधिर, पित्त, आंत से झरती हुई, मुर्दे के समान दुर्गन्ध सहित है तथा अपक्व मल सहित बलगम, चर्बी और पीप आदि अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है ॥४२॥

गाथा—भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

छाया—भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बान्धवादिमित्रेण ।
इति भावयित्वा उज्झय गन्धमाभ्यन्तरं धीर ! ॥४३॥

अर्थ—जो मुनि रागादिभावों से मुक्त (रहित) है वही वास्तव में मुक्त है, किन्तु जो बाह्य बान्धवादि कुटुम्ब से ही मुक्त है वह मुक्त नहीं कहलाता है । ऐसा विचार कर हे धीर मुनि ! तू अन्तरंग स्नेहरूप वासना का त्याग कर ॥४३॥

गाथा— देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर !
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥४४॥

छाया— देहादित्यक्तसंगः मानकषायेन कलुषितो धीर !
आतापनेन जातः बाहुबलिः कियन्तं कालम् ॥४४॥

अर्थ—हे धीर मुनि ! देहादि परिग्रह से ममत्व छोड़ने वाले बाहुबलि स्वामी ने मानकषाय से मलिनचित्त होकर कायोत्सर्ग (खड़े होकर ध्यान करना) के द्वारा कितना समय व्यतीत किया, किन्तु सिद्धि प्राप्त नहीं हुई । जब कषाय की मलिनता दूर हुई तब ही उनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥४४॥

गाथा—महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं णपत्तो णियाणमित्तेणभवियणुय ॥४५॥

छाया—मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः ।
श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत ! ॥४५॥

अर्थ—भव्य जीवों से नमस्कार करने योग्य हे मुनि ! शरीर और आहारादि का त्याग करने वाला मधुपिंग नामक मुनि केवल निदान के कारण श्रमणपने (भावमुनिपने) को प्राप्त नहीं हुआ ।।४५।।

गाथा— अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण ।
सोणत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥ ४६ ॥

छाया— अन्यच्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानमात्रेण ।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रान्तः जीव ! ॥ ४६ ॥

अर्थ—और भी एक वसिष्ठ नामक मुनि ने निदान के दोष से बहुत दुःख पाया । हे जीव ! लोक में ऐसा कोई निवास स्थान नहीं है, जहां तूने जन्म मरण के द्वारा भ्रमण नहीं किया ।

गाथा— सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ।। ४७ ।।

छाया— स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयो निवासे ।
भावविरतोऽपि श्रमणः यत्र न भ्रान्तः जीव ! ।। ४७ ।।

अर्थ—हे जीव ! इस संसार में चौरासी लाख योनि के स्थानों में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां तूने आत्मानुभवरूप भावों के बिना द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भ्रमण नहीं किया ।

गाथा— भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ।। ४८ ।।

छाया— भावेन भवति लिंगी नहि लिंगी भवति द्रव्यमात्रेण ।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन ।। ४८ ।।

अर्थ— भावलिंग से ही जिनलिंगी मुनि होता है तथा केवल द्रव्यलिंग से जिनलिंगी नहीं होता । इस लिए भावलिंग को ही धारण करो, क्योंकि द्रव्यलिंग से मुक्ति आदि क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ॥ ४८ ॥

गाथा— दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये ।।

छाया—दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण।
जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः स रौरवे नरके ॥४६॥

अर्थ—जिनलिंग का धारक बाहुमुनि अन्तरंग कषायों के दोष से सारे दण्डकनगर को जलाकर सातवीं नरकभूमि के रौरव नरक (बिल) में नारकी उत्पन्न हुआ।

गाथा—अवरोवि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

छाबा—अपरः इति द्रव्यश्रमणः दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः।
द्वीपायन इति नामा अनन्तसांसारिकः जातः ॥५०॥

अर्थ—और भी एक द्वीपायन नामक द्रव्यलिंगी मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी ही बना रहा ॥५०॥

गाथा—भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढ्ढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

छाया—भावश्रमणश्चधीर; युवतिजनवेष्टितः विशुद्धमतिः।
नाम्ना शिवकुमारः परित्त्यक्तसांसारिकः जातः ॥

अर्थ—भावलिंग का धारक धीर वीर शिवकुमार मुनि अनेक युवतियों के द्वारा चलायमान करने पर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य का धारक संसार का त्याग करने वाला अर्थात् निकटभव्य होगया ॥५१॥

गाथा—अंगाइं दस य दुण्णिय चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

छाया—अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

अर्थ—एक भव्यसेन नामक मुनि ने बारह और चौदहपूर्व रूप सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को पढ़ लिया, तो भी भावमुनिपने को प्राप्त नहीं हुआ, अर्थात् यथार्थ तत्वों के श्रद्धान बिना अनन्त संसारी ही बना रहा ॥५२॥

गाथा—तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ।।५३।।

छाया—तुषमाषं घोषयन् भावविशुद्धः महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ।।५३।।

अर्थ—विशुद्ध परिणाम वाले और अत्यन्त प्रभावशाली शिवभूति मुनि 'तुषमाष' इस पद को रटते हुए केवलज्ञानी होगए यह बात सब जगह प्रसिद्ध है ।।५३।।

गाथा—भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीयणियरं णासइ भावेण दव्वेण ।।५४।।

छाया—भावेन भवति नग्नः बहिर् लिंगेन किं च नग्नेन ।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नश्यति भावेन द्रव्येण ।।५४।।

अर्थ—भाव से ही निर्ग्रन्थरूप सार्थक है किन्तु केवल बाह्य नग्नमुद्रा से कोई मोक्ष आदि कार्य सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि भाव सहित द्रव्यलिंग से ही कर्म-प्रकृतियों का समुदाय नष्ट होता है ।।५४।।

गाथा—णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ! ।।५५।।

छाया—नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
इति ज्ञात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ! ।।५५।।

अर्थ—भावरहित नग्नपना निष्फल (व्यर्थ) है, ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। ऐसा जानकर हे धीर मुनि ! सदा आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन कर।।५५।।

गाथा— देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।। ५६ ।।

छाया— देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः ।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधुः ।। ५६ ।।

अर्थ—जो शरीरादि परिग्रहों से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार छूटा हुआ है और जिसका आत्मा आत्मा में लीन रहता है वह भावलिंगी साधु है ॥५६॥

गाथा— ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ५७ ॥

छाया— ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषानि व्युत्सृजामि ॥ ५७ ॥

अर्थ—भावलिंगी मुनि ऐसा विचार करता है कि मैं ममत्वभाव (यह मेरा है, मैं इसका हूं) का त्याग करता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन (सहारा) है, इस लिए आत्मा से भिन्न रागद्वेषादि परिणामों का त्याग करता हूँ ॥ ५७ ॥

गाथा— आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ ५८ ॥

छाया—आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवर योगे ॥ ५८ ॥

अर्थ—भावलिंगी मुनि विचार करता है कि निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन और चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान (भविष्य में दोषों का त्याग) में आत्मा है और संवर तथा ध्यान में भी आत्मा ही है।

भावार्थ—ये ज्ञानादि गुण मेरा स्वरूप है और मैं इन गुणस्वरूप हूँ ॥ ५८ ॥

गाथा— एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिर भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ५९ ॥

छाया— एको मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मेरा आत्मा एक है, नित्य है, और ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है। शेष सब रागद्वेषादिभाव बाह्य हैं और परद्रव्य के संयोग से प्राप्त हुए हैं ॥ ५९ ॥

गाथा— भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ॥ ६० ॥

छाया— भावय भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव।
लघु चतुर्गतिं च्युत्वा यदि इच्छसि शाश्वतं सौख्यम् ॥ ६० ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गतिरूप संसार को छोड़ कर अविनाशी सुख रूप मोक्ष को चाहते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा पवित्र और कलंकरहित आत्मा का चिन्तवन करो ॥ ६० ॥

गाथा— जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुडइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥ ६१ ॥

छाया— यः जीवः भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः।
सः जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव उत्तमभावसहित आत्मा के स्वभाव का चिन्तवन करता है, वह जरा मरण आदि दोषों का नाश कर निश्चय से निर्वाण पद प्राप्त करता है।

गाथा— जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥ ६२ ॥

छाया— जीवः जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावः च चेतनासहितः।
सः जीवः ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्तः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जीव ज्ञानस्वभाव वाला और चेतनासहित है ऐसा जिन भगवान् ने कहा है। ऐसे स्वभाव वाला आत्मा ही कर्मों के क्षय करने का कारण है ॥ ६२ ॥

गाथा— जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥ ६३ ॥

छाया— येषां जीवस्वभावः नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धाः वचोगोचरातीताः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव आत्मा का स्वभाव अस्तित्वरूप (मौजूदगी) मानते हैं तथा बिल्कुल अभावरूप नहीं मानते। वे जीव शरीररहित और वचन से न कहने योग्य सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

गाथा—अरसमरूवमगंधं अव्वतं चेयणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥६४॥

छाया—अरसमरूपमगन्धं अव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्ट संस्थानम् ॥६४॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू जीव का स्वरूप ऐसा जान कि वह रस, रूप और गन्ध रहित है, इन्द्रियों से प्रगट नहीं जाना जाता, चेतना गुण सहित, शब्द, लिंग रहित तथा आकार रहित है ॥३४॥

गाथा—भावहि पंचपयारंणाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥६५॥

छाया—भावयपंचप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम्।
भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति ॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू आत्मा की भावना सहित होकर अज्ञान का नाश करने वाले पंच प्रकार के ज्ञान का शीघ्र ही चिन्तवन कर, जिससे जीव स्वर्ग और मोक्ष के सुख का पात्र होता है ॥६५॥

गाथा—पढिएणवि किं कीरइ किंवा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥

छाया—पठितेनापि किं क्रियते किंवा श्रुतेन भावरहितेन।
भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥६६॥

अर्थ—भावरहित ज्ञान के पढ़ने और सुनने से क्या कार्य सिद्ध होता है अर्थात् स्वर्ग मोक्षादि रूप कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए श्रावकपने और मुनिपने का कारण भाव ही जानना चाहिए ॥६६॥

गाथा—दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

छाया—द्रव्येण सकला नग्नाः नारकतिर्यञ्चश्चसकल संघाताः।
परिणामेन अशुद्धाः न भावश्रमणत्वं प्राप्ताः ॥६७॥

अर्थ—बाह्य रूप से तो सभी जीव नग्न रहते हैं। नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यादि का समुदाय नग्न रहता है। किन्तु परिणाम अशुद्ध होने से भावमुनिपने (भावलिंगपने) को प्राप्त नहीं होते ॥६७॥

गाथा—णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जियं सुइरं ॥६८॥

छाया—नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसायरे भ्रमति।
नग्नः न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः सुचिरम् ॥६८॥

अर्थ—जिनभगवान् की भावना रहित नग्न जीव बहुत काल तक दुःख पाता है, संसार समुद्र में भ्रमण करता है, और रत्नत्रय को भी नहीं पाता है ॥६८॥

गाथा—अयसाण भायणेण य किंते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥

छाया—अयशसां भाजनेन किंते नग्नेन पापमलिनेन।
पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन श्रमणेन ॥६९॥

अर्थ—हे मुनि! ऐसे नग्नपने और मुनिपने से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, जो अयश (बुराई) के योग्य है, पाप से मलिन है तथा पैशून्य (दूसरों का दोष कहना) हंसी; ईर्षा, मायादि बहुत से विकारों से परिपूर्ण है ॥६९॥

गाथा—पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई ॥७०॥

छाया—प्रकटय जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः।
भावमलेन च जीवः बाह्यसंगे मलिनयति ॥७०॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अन्तरंग भावों के दोषों से सर्वथा शुद्ध होकर जिनलिंग (नग्नमुद्रा) को प्रकट कर। कारण कि जीव भावों की मलिनता से बाह्य परिग्रह में परिणामों को मलिन करता है ॥७०॥

गाथा—धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

छाया—धर्मे निप्रवासः दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः।
निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणः नग्नरूपेण ॥७१॥

अर्थ—दयालक्षण, आत्मस्वभाव, दशलक्षण रूप और रत्नत्रय रूप धर्म में जिसका निवास है, जो ईख के फूल के समान मोक्षादि फल रहित और ज्ञानादि गुणरहित है, वह नग्नपने के भेष में नाचने वाला भाण्ड है ॥७१॥

गाथा— जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ ७२ ॥

छाया— ये रागसंगयुक्ताः जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः।
न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ॥

अर्थ— जो मुनि रागभावरूप परिग्रह सहित हैं और आत्मस्वरूप की भावना रहित निर्ग्रन्थ रूप को धारण करते हैं, वे पवित्र जिनमार्ग में कहे हुये ध्यान और रत्नत्रय को नहीं पाते हैं ॥

गाथा— भावेण होइणग्गो मिच्छत्ताइं य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

छाया— भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादींश्च दोषान् त्यक्त्वा।
पश्चात् द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ॥

अर्थ—मुनि पहले मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर शुद्धभाव से अन्तरंग रूप से नग्न होता है, पीछे जिन भगवान् की आज्ञा से बाह्यलिंग को धारण करता है।

भावार्थ—भाव पवित्र होने पर ही नग्न रूप धारण करना सार्थक हो सकता है ॥

गाथा— भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

छाया— भावः अपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं भाववर्जितः श्रमणः ।
कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥ ७४ ॥

अर्थ—शुद्धभाव ही स्वर्गमोक्षादि का सुख दिलाने वाला है, तथा भावरहित मुनि कर्मरूपी मैल से मलिन चित्तवाला, तिर्यञ्च गति के योग्य और पापात्मा होता है ॥

गाथा— खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥ ७५ ॥

छाया— खचरामरमनुजकरांजलिमालाभिश्च संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिः सुभावेन ॥ ७५ ॥

अर्थ—उत्तम भाव के द्वारा जीव विद्याधर, देव, मनुष्य आदि के हाथों की अंजुलि से स्तुति की गई बहुत बड़ी चक्रवर्ती राजा की लक्ष्मी को तथा रत्नत्रय को भी प्राप्त करता है ॥

गाथा— भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरूद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

छाया— भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः ।
अशुभश्च आर्तरौद्रं शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥ ७६ ॥

अर्थ—भाव तीन प्रकार का जानना चाहिए— शुभ, अशुभ और शुद्ध । इनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो अशुभभाव है तथा धर्मध्यान शुभभाव है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥

गाथा— सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ ७७ ॥

छाया— शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि सः च ज्ञातव्यः ।
इति जिनवरैः भणितं यः श्रेयान् तं समाचर ॥ ७७ ॥

अर्थ—शुद्धस्वभाव वाला आत्मा आत्मा में ही है, सो शुद्धभाव जानना चाहिये। इनमें जो भाव कल्याणरूप (हितकारी) है उसको स्वीकार करो, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥७७॥

गाथा— पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ ७८ ॥

छाया— प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः ।
आप्नोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः ॥७८॥

अर्थ—जिन शासन में मानकषाय को पूर्णरूप से नष्ट करने वाला तथा मिथ्यात्व के उदय से होने वाले मोहभाव के नष्ट होने से समान हृदय वाला (रागद्वेष-रहित) जीव तीन लोक में सारभूत (उत्तम) रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग को पाता है ॥७८॥

गाथा— विसयविरत्तो सवणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ ७६ ॥

छाया— विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा ।
तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥ ७६ ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियों के विषयों से उदासीन मुनि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करके थोड़े ही समय में तीर्थंकर प्रकृति का प्रबन्ध करता है ॥

गाथा—बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण ।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

छाया—द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन ।
धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कुशेन मुनिप्रवर ! ॥८०॥

अर्थ—हे मुनिश्रेष्ठ ! तू १२ प्रकार के तप और १३ प्रकार की क्रियाओं को मन, वचन, काय से चिन्तवन कर तथा मनरूपी मस्त हाथी को ज्ञानरूपी अंकुश से वश में कर। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये १२ तप हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति ये १३ प्रकार की क्रिया हैं ॥८०॥

गाथा—पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

छाया—पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसयमं भिक्षुः।
भावं भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥८१॥

अर्थ—जहां रेशम, ऊन, सूत, छाल और चमड़ा इन पांच प्रकार के वस्त्र का त्याग किया जाता है, भूमि पर सोया जाता है, दो प्रकार का संयम (इन्द्रिय संयम और प्राण संयम) पाला जाता है, भिक्षावृत्ति से भोजन किया जाता है और पहले आत्मा के शुद्ध भावों का विचार किया जाता है, ऐसा अन्तरंग और बहिरंग मलरहित जिनलिंग होता है ॥८१॥

गाथा—जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरूगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥८२॥

छाया—यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरूगणानां गोशीरम्।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमथनम् ॥८२॥

अर्थ—जैसे सब रत्नों में उत्तम वज्र अर्थात् हीरा है और जैसे सब पेड़ों में उत्तम चन्दन है, वैसे ही सब धर्मों में उत्तम जिनधर्म है, जो संसार का नाश करने वाला है। हे मुनि! तू उस उत्तम जिनधर्म का चिन्तवन कर ॥८२॥

गाथा—पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥
छाया—पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥
अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने उपासकाध्ययन शास्त्र में ऐसा कहा है कि पूजा आदि धर्म क्रियाओं का व्रत सहित होना पुण्य है अर्थात् इनको नियमपूर्वक करना पुण्यबन्ध का कारण है। तथा मोह और चित्त की चंचलता रहित आत्मा का परिणाम धर्म है ॥८३॥

गाथा—सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदिय तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥

छाया—श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति ।
पुण्यं भोगनिमित्तं नहि तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ।।८४।।

अर्थ—जो पुरुष पुण्य क्रियाओं को धर्म रूप श्रद्धान करता है अर्थात् मोक्ष का कारण समझता है । वैसा ही जानता प्रेम करता है, और आचरण करता है, उसका पुण्य भोग का ही कारण है, कर्मों के नाश का कारण नहीं है ।। ८४ ।।

गाथा—अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।। ८५ ।।

छाया—आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः ।
संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टम् ।। ८५ ।।

अर्थ—रागद्वेषादि सब दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मा में लीन होता है वह धर्म है और संसार समुद्र से पार होनें का कारण है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।। ८५ ।।

गाथा—अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ।।८६।।

छाया—अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषानि ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ।।८६।।

अर्थ—अथवा जो पुरुष आत्मा के स्वरूप का विचार नहीं करता है और पूजादानादि सब पुण्य क्रियाओं को करता है, तो भी वह मोक्ष को नहीं पाता है । उसको संसारी ही कहा गया है ।। ८६ ।।

गाथा—एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लभेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ।। ८७ ।।

छाया—एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ।। ८७ ।।

अर्थ—इसी कारण तुम मन, वचन, काय से उस आत्मा का श्रद्धान करो और उसको यत्नपूर्वक जानो जिससे तुम मोक्ष को प्राप्त करो ।। ८७ ।।

गाथा—मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥ ८८ ॥

छाया—मत्स्यः अपि शालिसिक्थः अशुद्धभावः गतः महानरकम्।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—तन्दुल नामक मच्छ अशुद्ध परिणामी होता हुआ सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। ऐसा जानकर हे भव्य जीव! तू सदा आत्मा में जिनदेव की भावना कर ॥ ८८ ॥

गाथा—बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥ ८९ ॥

छाया—बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्दरीकंदरादौ आवासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—शुद्ध आत्मा की भावना रहित पुरुषोंका बाह्य परिग्रह त्याग, पहाड़, नदी, गुफा, खोह आदि में रहना और सम्पूर्ण शास्त्रों का पढ़ना आदि व्यर्थ है ॥ ८९ ॥

गाथा—भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥ ९० ॥

छाया—भंग्धि इन्द्रियसेनां भंग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन।
मा जनरंजनकरणं बहिर्व्रतवेष! त्वं कार्षीः ॥ ९० ॥

अर्थ—हे मुनि! तू इन्द्रिय रूपी सेना को नाश कर और मन रूपी बन्दर को यत्न-पूर्वक वश में कर, तथा बाह्य व्रत को धारण करने वाले! तू लोगों को प्रसन्न करने वाले कार्य मत कर ॥ ९० ॥

गाथा—णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरूणं करेहिं भत्तिं जिणाणाए ॥ ९१ ॥

छाया—नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्ध्या।
चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरू भक्तिं जिनाज्ञया ॥ ९१ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू शुद्ध परिणामों से हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुँसकवेद इन ६ नोकषाय के समूह को और एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान इन ५ प्रकार के मिथ्यात्व का त्याग कर, तथा जिन भगवान् की आज्ञा से जिन-प्रतिमा, जैनशास्त्र और निर्ग्रन्थगुरु की भक्ति कर ॥ ६१ ॥

गाथा—तित्थयरभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥ ६२ ॥

छाया—तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥६२॥

अर्थ—हे मुनि ! तू उस अनुपम श्रुतज्ञान का शुद्धभाव से चिन्तवन कर, जिसका अर्थ तीर्थंकर भगवान् के द्वारा कहा गया है और गणधरदेवों ने भलीभांति जिसकी शास्त्ररूप रचना की है ॥ ६२ ॥

गाथा—पाऊण णाणसंलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुका ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ६३ ॥

छाया—प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहाशोषोन्मुक्ता ।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—श्रुतज्ञानरूपी जल को पीकर जीव सिद्ध होते हैं—जो कठिनता से नाश होने योग्य तृष्णा, सन्ताप और शोष (रसरहित होना) आदि रहित हैं मोक्षस्थान में निवास करने वाले हैं, तथा तीनों लोक के चूड़ामणि हैं ॥६३॥

गाथा—दस दस दो सुपरीसह सहदि मुणी सयलकाल काएण ।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमुत्तूण ॥ ६४ ॥

छाया—दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकालं कायेन ।
सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू जैन शास्त्र के अनुसार प्रमादरहित होकर और संयम का घात करने वाली क्रिया को छोड़कर शरीर से सदा बाईस परीषहों को सहन कर ॥ ६४ ॥

गाथा—जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुकएण ।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥ ९५ ॥

छाया—यथा प्रस्तरः न भिद्यते परिस्थितः दीर्घकालमुदकेन ।
तथा साधुरपि न भिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जैसे पत्थर बहुत समय तक पानी में डूबा हुआ भी अन्दर से गीला नहीं होता है, वैसे ही साधु उपसर्ग और परीषहों से चलायमान नहीं होता है ॥ ९५ ॥

गाथा—भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ ९६ ॥

छाया—भावय अनुप्रेक्षा अपराः पंचविंशति भावना भावय ।
भावरहितेन किं पुनः बाह्यलिंगेन कर्तव्यम् ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू अनित्यादि १२ भावनाओं और पांच महाव्रत की २५ भावनाओं का चिन्तवन कर, क्योंकि शुद्धभावरहित नग्नवेष से क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ॥ ९६ ॥

गाथा—सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं ।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥ ९७ ॥

छाया—सर्वविरतः अपि भावय नव पदार्थान् सप्त तत्वानि ।
जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥ ९७ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू महाव्रत का धारक होने पर भी ९ पदार्थ, ७ तत्व, १४ जीवसमास और १४ गुणस्थानों का चिन्तवन कर ॥ ९७ ॥

गाथा—णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥ ९८ ॥

छाया—नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य ।
मैथुनसंज्ञासक्तः भ्रमितोऽसि भवार्णवे भीमे ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू दस प्रकार की काम अवस्था को छोड़कर ६ प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रकट कर, क्योंकि तूने कामसेवन में आसक्त होकर इस भयानक संसार समुद्र में भ्रमण किया है ॥ ६८ ॥

गाथा—भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च ।
भावरहिदो य मुणिवर भवइ चिरं दीहसंसारे ॥ ६६ ॥

छाया—भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च ।
भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे । ॥ ६६ ॥

अर्थ—हे मुनिवर ! शुद्धभावसहित मुनियों का स्वामी दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं को पाता है तथा भावरहित मुनि बहुत काल तक इस दीर्घ संसार में भ्रमण करता है ॥ ६६ ॥

गाथा—पावंति भावसवणा कल्लाणपरपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥ १०० ॥

छाया—प्राप्नुवन्ति भावश्रमणाः कल्याणपरम्पराणि सौख्यानि ।
दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥ १०० ॥

अर्थ—भावलिंगी मुनि अनेक कल्याणों की परम्परा जिसमें ऐसे तीर्थंकरादि के सुखों को पाते हैं । तथा द्रव्यलिंगी मुनि मनुष्य, तिर्यञ्च और खोटे देवों की योनि (गति) में दुःख पाते हैं ॥ १०० ॥

गाथा—छायासदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥ १०१ ॥

छाया—षट्चत्वारिंशद्दोषदूषितमशनं ग्रसितं अशुद्धभावेन ।
प्राप्तो ऽसि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तूने अशुद्ध भाव से ४६ दोषों से दूषित आहार ग्रहण किया, जिससे तिर्यञ्चगति में पराधीन होकर बहुत दुःख पाया ॥ १०१ ॥

गाथा—सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेण ऽधी पभुत्तूण ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चित्त ॥ १०२ ॥

छाया—सचित्तभक्तपानं गृद्ध्या दर्पेण अधीः प्रभुज्य।
प्राप्तो ऽसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चित्त ! ॥ १०२ ॥

अर्थ—हे जीव ! तूने अज्ञानी होकर अत्यन्त तृष्णा और घमण्ड के कारण सचित्त (जीवसहित) भोजन व जलादि ग्रहण करके अनादि काल से अत्यन्त कठोर दुःख पाया ॥ १०२ ॥

गाथा—कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतसंसारे ॥ १०३ ॥

छाया—कन्दं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किञ्चित् सचित्तम्।
अशित्वा मानगर्वे भ्रमितः असि अनन्तसंसारे ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे जीव ! तूने कन्द, मूल, बीज, फूल, पत्ते आदि कुछ सचित्त वस्तुओं को मान (स्वाभिमान) और घमण्ड से खाकर इस अनन्त संसार में भ्रमण किया है ॥ १०३ ॥

गाथा—विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥ १०४ ॥

छाया—विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन।
अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवन्ति ॥ १०४ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू मन, वचन, काय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार ५ प्रकार की विनय का पालन कर, क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद और मोक्ष को नहीं पाते हैं ॥ १०४ ॥

गाथा—णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥ १०५ ॥

छाया—निजशक्त्या महायशः ! भक्तिरागेण नित्यकाले।
त्वं कुरू जिनभक्तिपरं वैयावृत्त्यं दशविकल्पम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—हे महायशवाले मुनि ! तू भक्ति के प्रेम से अपनी शक्तिपूर्वक सदैव जिनेन्द्रदेव की भक्तिमें तत्पर करनेवाली दश प्रकार की वैयावृत्त्य का पालन कर ॥१०५॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन १० प्रकार के मुनियों की भक्तिपूर्वक सेवा करना सो १० प्रकार का वैयावृत्त्य है ॥ १०५ ॥

गाथा— जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं ।
तं गरहि गुरूसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥ १०६ ॥

छाया—यः कश्चित् कृतः दोषः मनोवचःकायैः अशुभभावेन ।
तं गर्ह गुरूसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तूने अशुभभाव से मन वचन काय के द्वारा जो कोई दोष किया हो, तू गर्व और माया छोड़कर गुरु के समीप उसकी निन्दा कर ॥ १०६ ॥

गाथा—दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥ १०७ ॥

छाया—दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः ।
कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रमणाः ॥ १०७ ॥

अर्थ—सज्जन मुनीश्वर सम्यक्त्वभाव से ममत्व रहित होते हुए दुर्जनों के निर्दय और कठोर वचनरूपी चपेटोंको कर्ममल का नाश करनेके लिएसहते हैं ॥१०७॥

गाथा— पावं खवइ असेसं खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो ।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होई ॥ १०८ ॥

छाया—पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमण्डितः च मुनिप्रवरः ।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयः ध्रुवं भवति ॥ १०८ ॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ मुनि क्षमा गुण से भूषित है वह समस्त पापों के समुदाय को नष्ट कर देता है और निश्चय से विद्याधर, देव तथा मनुष्यों के द्वारा प्रशंसा किया जाता है ॥ १०८ ॥

गाथा—इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं ।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥ १०९ ॥

छाया— इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान्।
चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिंच ॥ १०९ ॥

अर्थ— हे क्षमागुण के धारक मुनि ! ऐसा जान कर मन वचन काय से सब जीवों को क्षमा कर। तथा बहुत समय से इकट्ठी की हुई क्रोधरूपी अग्नि को उत्तम क्षमारूपी जल से शान्त कर ॥ १०९ ॥

गाथा— दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥११०॥

छाया— दीक्षाकालादीयं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्धः।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥ ११० ॥

अर्थ—हे विवेकरहित मुनि ! तू सम्यग्दर्शन से पवित्र होता हुआ सार और असार पदार्थों को जान कर श्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करने के लिए दीक्षाकाल आदि के वैराग्य परिणाम का विचार कर ॥ ११० ॥

गाथा— सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥ १११ ॥

छाया— सेवस्व चतुर्विधलिंगं अभ्यन्तरलिंगशुद्धिमापन्नः।
बाह्यलिंगमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानाम् ॥ १११ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू अन्तरङ्ग शुद्धि को प्राप्त होता हुआ केशलोंच, वस्त्रत्याग, स्नानत्याग, और पीछी कमण्डलु रखना इन चार बाह्य लिंगों को धारण कर क्योंकि शुद्धभावरहित जीवों का बाह्यलिंग निश्चय से निरर्थक ही होता है ॥ ११० ॥

गाथा— आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥ ११२ ॥

छाया— आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितोऽसि त्वम्।
भ्रमितः संसारवने अनादिकालं अनात्मवशः ॥ ११२ ॥

अर्थ— हे मुनि ! तूने आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओं से मोहित और पराधीन होकर अनादि काल से संसाररूपी वन में भ्रमण किया है ॥ ११२ ॥

गाथा— बाहिरसयणत्तावणतरूमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥ ११३ ॥

छाया—बहिःशयनातापनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् ।
पालय भावविशुद्धः पूजालाभं न ईहमानः ॥ ११३ ॥

अर्थ— हे मुनि । तू आत्मभावना से पवित्र होकर पूजा, लाम आदि न चाहते हुए खुले मैदान में सोना, आतापनयोग अर्थात् पर्वत की चोटी पर धूप में खड़े होकर ध्यान लगाना और वृक्ष के नीचे बैठना आदि उत्तर गुणों का पालन कर ॥ ११३ ॥

गाथा— भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥ ११४ ॥

छाया— भावय प्रथमं तत्त्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पञ्चमकम् ।
त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥ ११४ ॥

अर्थ— हे मुनि ! तू मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से शुद्ध होकर पहले जीव तत्व, दूसरे अजीव तत्व, तीसरे आस्रव तत्व, चौथे बन्धतत्व, पांचवें संवर तत्व और आदि अन्त रहित तथा धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों को हरने वाले मोक्षरूप आत्मा का ध्यान कर ॥ ११४ ॥

गाथा— जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥ ११५ ॥

छाया— यावन्न भावयति तत्वं यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि ।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम् ॥ ११५ ॥

अर्थ— जब तक यह आत्मा जीवादि तत्वों की भावना नहीं करता है और चिन्तवन करने योग्य धर्मध्यान, शुक्लध्यान तथा अनुप्रेक्षा (भावना) आदि का चिन्तवन नहीं करता है, तब तक जरामरणरहित स्थान अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता है ॥ ११५ ॥

गाथा— पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो-मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ११६ ॥

छाया— पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात्।
परिणामाद् बन्धः मोक्षः जिनशासने दिष्टः ॥ ११६ ॥

अर्थ— समस्त पुण्य और पाप परिणाम से ही होते हैं तथा बन्ध और मोक्ष भी परिणाम से ही होते हैं, ऐसा जिन शास्त्र में कहा है ॥ ११६ ॥

गाथा— मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहिं असुहलेस्सेहिं।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ ११७ ॥

छाया—मिथ्यात्वं तथा कषायासंयमयोगैः अशुभलेश्यैः।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखः जीवः ॥ ११७ ॥

अर्थ— जिनेन्द्रभगवान के वचन से पराङ्मुख (विरुद्ध) जीव मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्याओं के द्वारा अशुभ कर्म बांधता है ॥ ११७ ॥

गाथा— तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥ ११८ ॥

छाया— तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितम् ॥ ११८ ॥

अर्थ— उस पहले कहे हुए मिथ्यादृष्टि जीव से विपरीत सम्यग्दृष्टि जीव भावों की शुद्धता को प्राप्त कर शुभकर्म बांधता है। इस तरह जीव दोनों प्रकार के कर्म बांधता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने संक्षेप से कहा है ॥ ११८ ॥

गाथा— णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंत णाणाइगुणचित्तां ॥ ११९ ॥

छाया— ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम्।
दग्ध्वा इदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनाम् ॥ ११९ ॥

अर्थ— हे मुनि! तू ऐसा विचार कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से ढका

हुआ हूँ । इसलिए अब इनको जला कर अनन्तज्ञानादि गुणरूप चेतना को प्रगट करूं ॥ ११९ ॥

गाथा— सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥ १२० ॥

छाया— शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि ।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥ १२० ॥

अर्थ— हे मुनि ! तू प्रतिदिन १८००० प्रकार का शील और ८४००००० प्रकार के गुण इन सब का चिन्तवन कर । व्यर्थ ही बहुत कहने से क्या लाभ है ॥१२०॥

गाथा— झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मोत्तूण ।
रूद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥ १२१ ॥

छाया— ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा ।
रौद्रार्ते ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥ १२१ ॥

अर्थ— हे मुनि ! तू आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़ कर धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान का चिन्तवन कर, क्योंकि इस जीव ने अनादिकाल से आर्तध्यान और रौद्रध्यान का ही चिन्तवन किया है ॥ १२१ ॥

गाथा— जे केवि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरूक्खं ॥ १२२ ॥

छाया— ये केऽपि द्रव्यश्रमणाः इन्द्रियसुखाकुलाः न छिन्दन्ति ।
छिन्दन्ति भावश्रमणाः ध्यानकुठारैः भववृक्षम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो इन्द्रिय जनित सुखों से व्याकुल द्रव्यलिंगी मुनि हैं वे संसाररूपी वृक्ष को नहीं काटते हैं, किन्तु जो भावलिंगी मुनि हैं वे ही ध्यान रूपी कुल्हाड़ों से संसार रूपी वृक्ष को काटते हैं ॥ १२२ ॥

गाथा— जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई ॥ १२३ ॥

छाया— यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितः ज्वलति ।
तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपोऽपि प्रज्वलति ॥ १२३ ॥

अर्थ—जैसे भीतर के घर में रक्खा हुआ दीपक हवा की बाधा रहित जलता रहता है, वैसे ही रागभाव रूपी हवा की बाधारहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता रहता है अर्थात् आत्मा में प्रकाश करता है ॥ १२३ ॥

गाथा— झायहि पंचवि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥ १२४ ॥

छाया—ध्याय पंचापि गुरून् मंगलचतुःशरणलोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥ १२४ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तू पंच परमेष्ठी का ध्यान कर, जो मंगलरूप हैं । तथा अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चारों शरणरूप हैं, लोक में उत्तम हैं, मनुष्य, देव और विद्याधरों के पूज्य हैं, आराधनाओं के स्वामी हैं और वीर हैं ॥ १२४ ॥

गाथा— णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥ १२५ ॥

छाया— ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्याः भावेन ।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवाः भवन्ति ॥ १२५ ॥

अर्थ—भव्य जीव सम्यक्त्व रूप भाव के द्वारा ज्ञानमय निर्मल और शीतल जल को पीकर रोग, जरा, मरण, पीड़ा और दाह (मन की जलन) से रहित होते हुए सिद्ध होते हैं ॥ १२५ ॥

गाथा— जह बीयम्मि य दड्ढे णवि रोहइ अंकुरोय महिवीढे ।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥ १२६ ॥

छाया— यथा बीजे च दग्धे नापि रोहति अंकुरश्च महीपीठे ।
तथा कर्मबीजदग्धे भवांकुरः भावश्रमणानाम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—जैसे बीज जल जाने पर भूमि पर अंकुर नहीं उगता है, वैसे ही कर्मरूपी

बीज जल जाने पर भावलिंगी मुनियों का संसार रूपी अंकुर नहीं उगता है ॥ १२६ ॥

गाथा— भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥ १२७ ॥

छाया— भावश्रमणः अपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रमणश्च ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतः भव ॥ १२७ ॥

अर्थ—भावलिंगी मुनि सुखों को पाता है और द्रव्यलिंगी मुनि दुःखों को पाता है। इस प्रकार गुण और दोषों को जान कर भाव सहित संयमी बनो ॥ १२७ ॥

गाथा— तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिआ संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ १२८ ॥

छाया— तीर्थंकरगणधरादीनि अभ्युदयपरम्पराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवन्ति भावसहिताः संक्षेपेण जिनैः भणितम् ॥ १२८ ॥

अर्थ— भावलिंगी मुनि अनेक ऐश्वर्य वाले तीर्थंकर और गणधरादि के सुखों को पाते हैं, ऐसा संक्षेप से जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥ १२८ ॥

गाथा— ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥ १२९ ॥

छाया— ते धन्याः तेभ्यः नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः ।
भाव सहितेभ्यः नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः ॥ १२९ ॥

अर्थ— वे मुनि धन्य (पुण्यवान) हैं और उनको सदा मन, वचन, काय से हमारा नमस्कार हो, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पवित्र हैं, आत्मानुभवरूप शुद्ध परिणाम सहित हैं तथा छल कपटरहित हैं ॥ १२९ ॥

गाथा— इड्ढिमतुलं विउव्विय किंणरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥ १३० ॥

छाया— ऋद्धिमतुलां विकृतां किन्नरकिम्पुरुषामरखचरैः।
तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितः धीरः॥ १३० ॥

अर्थ—शुद्धसम्यक्त्वरूप भावनासहित धीर मुनि किन्नर, किम्पुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधरों के द्वारा विक्रियारूप फैलाई हुई अनुपम (अनोखी) ऋद्धि को देखकर उनके द्वारा भी मोहित नहीं होता है॥ १३०॥

गाथा— किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं।
जाणंतो पस्संतो चिंततो मोक्ख मुणिधवलो॥ १३१ ॥

छाया— कि पुनः गच्छति मोहं नरसुरसौख्यानां अल्पसाराणां।
जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधवलः॥ १३१ ॥

अर्थ— जो श्रेष्ठ मुनि मोक्ष को जानता है, देखता है और विचार करता है, वह क्या थोड़े सार वाले मनुष्य और देवों के सुखों में मोह को प्राप्त हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता॥ १३१ ॥

गाथा—उत्थरइ जाण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं॥ १३२ ॥

छाया—आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निर्यावन्न दहति देहकुटीम्।
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम्॥ १३२ ॥

अर्थ—हे मुनि! जब तक तेरा बुढ़ापा नहीं आता है और जब तक रोगरूपी अग्नि देहरूपी झोंपड़ी को नहीं जलाती है तथा इन्द्रियों का बल नहीं घटता हैं तब तक तुम आत्मा का हितसाधन करो॥ १३२ ॥

गाथा—छज्जीव सडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त॥ १३२ ॥

छाया—षड्जीवषडायतनानां नित्यं मनोवचनकाययोगैः।
कुरु दयां परिहर मुनिवर! भावय अपूर्वं महासत्व!॥ १३३ ॥

अर्थ—हे उत्कृष्ट परिणाम के धारक मुनिवर! तुम मन, वचन, काय से सदा छह

काय के जीवों की रक्षा करो और पाप के छह आयतनों (कारणों) का त्याग करो तथा पहले न जानी हुई आत्मभावना का चिन्तवन करो ॥१३३॥

गाथा—दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण ।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥ १३४ ॥

छाया—दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसागरे भ्रमता ।
भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानाम् ॥ १३४ ॥

अर्थ—हे मुनि ! अनन्त भवसागर में घूमते हुए तूने मन, वचन, कायसे भोग सम्बन्धी सुखों को पाने के लिये सम्पूर्ण त्रस और स्थावर जीवों के दश प्रकार के प्राणों का आहार किया ॥ १३४ ॥

गाथा—पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
उप्पज्जंत मरंतो पत्तोसि निरंतरं दुक्खं ॥ १३५ ॥

छाया—प्राणिवधैः महायशः ! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये ।
उत्पद्यमानः म्रियमाणः प्राप्तो ऽसि निरन्तरं दुःखम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—हे महायशवाले मुनि ! तुमने जीवों की हिंसा से चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होते और मरते हुए निरन्तर दुःख पाया है ॥ १३५ ॥

गाथा—जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं ।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥ १३६ ॥

छाया—जीवानामभयदानं देहि मुने ! प्राणिभूतसत्वानाम् ।
कल्याणसुखनिमित्तं परम्परया त्रिविधशुद्धया ॥ १३६ ॥

अर्थ—हे मुनि ! तुम परम्परा से तीर्थंकरादि के कल्याण सम्बन्धी सुखों को पाने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से सब जीवों को अभयदान दो ॥१३६॥

गाथा—असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी ।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणैया होंति बत्तीसा ॥ १३७ ॥

छाया—अशीतिशतं क्रियावादिनामक्रियाणां च भवति चतुरशीतिः ।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥ १३७ ॥

अर्थ—क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२ भेद होते हैं। इस प्रकार कुल ३६३ मिथ्यामत संसार में प्रचलित हैं॥ १३७॥

गाथा—ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठुवि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ १३८॥

छाया—न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम्।
गुडदुग्धमपि पिवन्तः न पन्नगाः निर्विषाः भवन्ति॥ १३८॥

अर्थ—अभव्य जीव जिनधर्म को अच्छी तरह सुनकर भी अपनी प्रकृति अर्थात् मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है। जैसे गुड़ मिला दूध पीने पर भी सर्प बिष रहित नहीं होते हैं॥ १३८॥

गाथा—मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि॥ १३९॥

छाया—मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धिया दुर्मतैः दोषैः।
धर्मं जिनप्रज्ञप्तं अभव्यजीवः न रोचयति॥ १३९॥

अर्थ—मिथ्यात्व परिणाम से जिसकी ज्ञान दृष्टि ढकी हुई है, ऐसा अभव्य जीव मिथ्यामतरूपी दोषों से उत्पन्न हुई मिथ्याबुद्धि के कारण जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किए हुए धर्म का श्रद्धान नहीं करता है॥ १३९॥

गाथा—कुच्छियधम्मम्मिरओ कुच्छियपासण्डिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणं होई॥ १४०॥

छाया—कुत्सितधर्मे रतः कुत्सितपाषण्डिभक्तिसंयुक्तः।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति॥ १४०॥

अर्थ—जो जीव निन्दित धर्म में लीन है, निन्दित पाषण्डी (ढोंगी) साधुओं की भक्ति करता है और निन्दित (अज्ञानरूप) तप करता है वह खोटी गति का पात्र होता है॥ १४०॥

गाथा—इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो ।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ।। १४१ ।।

छाया—इति मिथ्यात्ववासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितः जीवः ।
भ्रमितः अनादिकालं संसारे धीर ! चिन्तय ।। १४१ ।।

अर्थ—इस प्रकार सर्वथा एकान्त रूप मिथ्यानय से पूर्ण शास्त्रों से मोहित हुए जीव ने अनादि काल से मिथ्यात्व के स्थान रूप इस संसार में भ्रमण किया है। सो हे धीर मुनि ! तू इसका विचार कर ।। १४१ ।।

गाथा—पासंडि तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ।। १४२ ।।

छाया—पाषण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदाः उन्मार्गं मुक्त्वा ।
रुन्द्धि मनः जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना ।। १४२ ।।

अर्थ—हे जीव ! तुम ३६३ भेदरूप पाषण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपना मन लगाओ। व्यर्थ बहुत कहने से क्या लाभ है ।। १४२ ।।

गाथा—जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ।। १४३ ।।

छाया—जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवः ।
शवः लोके अपूज्यः लोकोत्तरे चलशवः ।। १४३ ।।

अर्थ—इस लोक में जीवरहित शरीर शव (मुर्दा) कहलाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरहित पुरुष चलता हुआ शव होता है। इन दोनों में मुर्दा तो लोक में अपूज्य है अर्थात् जलाया या गाड़ दिया जाता है और चलता हुआ मुर्दा लोकोत्तर अर्थात् उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टी पुरुषों में अपूज्य (अनादर के योग्य) होता है अथवा परलोक में नरकतिर्यञ्चादि नीच गति पाता है ।। १४३ ।।

गाथा—जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ।। १४४ ।।

छाया—यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजः मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥ १४४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ताराओं में चन्द्रमा प्रधान है और पशुओं में सिंह प्रधान है, वैसे ही मुनि और श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यग्दर्शन ही प्रधान है ॥ १४४ ॥

गाथा—जह फणिराओ सोहइ फणमणिमाणिक्किरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥ १४५ ॥

छाया—यथा फणिराजः शोभते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः ॥ १४५ ॥

अर्थ—जैसे फणिराज अर्थात् धरणेन्द्र हजार फणों की मणियों के बीच में स्थित माणिक्य (लाल मणि) की किरणों से शोभायमान होता है, वैसे ही निर्मल सम्यक्त्व का धारक जिनेन्द्रभक्त जीव जैन सिद्धान्त में शोभायमान होता है ॥ १४५ ॥

गाथा—जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४६ ॥

छाया—यथा तारागणसहितं शशधरबिम्बं खमण्डले विमले ।
भावितं तपोव्रतविमलं जिनलिङ्गं दर्शनविशुद्धम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—जैसे निर्मल आकाश मण्डल में ताराओं के समुदाय सहित चन्द्रमा का बिम्ब शोभित होता है, वैसे ही तप और व्रतों से निर्मल और सम्यग्दर्शन से पवित्र जिनलिङ्ग (दिगम्बर वेष) शोभित होता है ॥ १४६ ॥

गाथा—इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ १४७ ॥

छाया—इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥ १४७ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! तुम इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के गुण और दोष को जानकर सम्यक्त्व रूप रत्न को शुद्ध भाव से धारण करो, जो सम्पूर्ण गुणरत्नों में उत्तम है और मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है ।। १४७ ।।

गाथा—कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ।।१४८।।

छाया—कर्ताभोक्ता अमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनश्च ।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टः जिनवरेन्द्रैः ।।१४८।।

अर्थ—यह जीव शुभ अशुभ कर्मों का अथवा आत्मपरिणामों का कर्ता, कर्मफल का भोक्ता, मूर्तिरहित, शरीर के समान आकार वाला, आदि अन्तरहित, दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग सहित है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।। १४८ ।।

गाथा—दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ।।१४९।।

छाया—दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयं अन्तरायकं कर्म ।
निष्ठापयति भव्यजीवः सम्यक् जिनभावनायुक्तः ।।१४९।।

अर्थ—भलीभांति जिनभावनासहित भव्यजीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को नाश करता है ।।१४९ ।।

गाथा—बलसोक्खणाणदंसण चत्तारिवि पायडा गुणा होंति ।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ।।१५०।।

छाया—बलसौख्यज्ञानदर्शनानि चत्वारोऽपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ।।१५०।।

अर्थ—चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त बल, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन ये चार गुण प्रगट होते हैं । इन गुणों के प्रगट होने पर जीव लोकालोक को प्रकाशित करता है ।। १५० ।।

गाथा—णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्कोय होइ फुडं ॥१५१॥

छाया—ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञः विष्णुः चतुर्मुखः बुद्धः ।
आत्मा अपि च परमात्मा कर्मविमुक्तश्च भवति स्फुटम् ॥ १५१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह संसारी जीव कर्मबन्धन से छूटकर परमात्मा हो जाता है, जिसको ज्ञानी (केवल ज्ञानी) शिव (कल्याणरूप), परमेष्ठी (परमपद में स्थित) सर्वज्ञ (सब पदार्थों को जाननेवाला) विष्णु (ज्ञान के द्वारा समस्त लोक में व्यापक) चतुर्मुख (सब ओर देखने वाला) बुद्ध (ज्ञाता) आदि कहते हैं ॥ १५१ ॥

गाथा—इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपदीवो देऊ मम उत्तमं बोहिं ॥१५२॥

छाया—इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः ।
त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यं उत्तमां बोधिम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार घातिया कर्मों से रहित, १८ दोष रहित, परमौदारिक शरीर सहित, तीनलोक रूपी घर को प्रकाशित करने को दीपक के समान श्रीअरहन्तदेव मुझे रत्नत्रय प्रदान करें। इस प्रकार आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी प्रार्थना करते हैं ॥ १५२ ॥

गाथा—जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण ।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

छाया—जिनवरचरणाम्बुरुहं नमन्ति ये परमभक्तिरागेण ।
ते जन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥१५३॥

अर्थ—जो भव्यपुरुष उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनभगवान् के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे उत्तम भावरूप हथियार से संसाररूप बेल को जड़ से खोद देते हैं अर्थात् मिथ्यात्व का सर्वथा नाश करते हैं ॥ १५३ ॥

गाथा—जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५४॥

छाया—यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या।
तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥१५४॥

अर्थ—जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल के द्वारा नहीं छुआ जाता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टी पुरुष उत्तम भावों द्वारा क्रोधादि कषायों और इन्द्रिय विषयों से लिप्त नहीं होता है ॥ १५४ ॥

गाथा—तेवि य भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥

छाया—तानपि च भणामि ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः।
बहु दोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥ १५५ ॥

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जो सम्पूर्ण कलाओं और शील, संयम आदि गुणों सहित हैं उन सम्यग्दृष्टि पुरुषों को हम मुनि कहते हैं। तथा जो अनेक दोषों का घर है, अत्यन्त मलिन चित्त है, ऐसा मिथ्यादृष्टि पुरुष श्रावक के समान भी नहीं है, किन्तु वास्तव में मुनि वेषधारी बहुरूपिया है ॥ १५५ ॥

गाथा—ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१५६॥

छाया—ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमखड्गेण विस्फुरता।
दुर्जयप्रबलबलोद्धरकषायभटाः निर्जिता यैः ॥१५६॥

अर्थ—वे पुरुष धीर वीर हैं जिन्होंने चमकते हुए क्षमा और इन्द्रियों के दमनरूप तलवार से अत्यन्त कठिनता से जीतने योग्य बलवान् और बल से उन्मत्त कषायरूपी योद्धाओं को जीत लिया है ॥ १५६ ॥

गाथा—धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥

छाया—धन्याः ते भगवन्तः दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्तैः।
विषयमकरधरपतिताः भव्याः उत्तारिताः यैः ॥१५७॥

अर्थ—वे पुरुष पुण्यवान् और आदर के योग्य हैं जिन्होंने दर्शन ज्ञानरूपी मुख्य हाथोंसे विषयरूपी समुद्र में डूबे हुए भव्य जीवोंको पार कर दिया है ॥१५७॥

गाथा—मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥

छाया—मायावल्लिं अशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम्।
विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥१५८॥

अर्थ—दिगम्बर मुनि मोहरूपी बड़े वृक्ष पर चढ़ी हुई और विषय रूपी विष के पुष्प से फूली हुई सम्पूर्ण मायाचार रूपी बेल को सम्यग्ज्ञान रूपी हथियारों से काटते हैं॥ १५८ ॥

गाथा—मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

छाया—मोहमदगारवैः च मुक्ताः ये करुणाभावसंयुक्ताः।
ते सर्वदुरितस्तम्भं घ्नन्ति चारित्रखड्गेन ॥१५९॥

अर्थ—जो मुनि मोह, मद और गौरवरहित हैं तथा करुणाभाव सहित हैं, वे चारित्ररूपी तलवार से सम्पूर्ण पापरूपी स्तम्भ (वृक्ष के तने) को काटते हैं ॥ १५९ ॥

गाथा— गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥१६०॥

छाया— गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनीन्द्रः।
तारावलिपरिकलितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥१६०॥

अर्थ—जैसे आकाश में ताराओं के समुदाय से घिरा हुआ पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही जिनमत रूपी आकाश में मुनीन्द्र रूपी चन्द्रमा मूलगुणों और उत्तरगुणों के समुदाय से शोभायमान होता है ॥१६०॥

गाथा—चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

छाया— चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि।
चारणमुन्यृद्धीः विशुद्धभावाः नराः प्राप्ताः ॥१६१॥

अर्थ— विशुद्धभावों के धारक मुनिवर चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, इन्द्र, तीथकर, गणधरादि के सुखों को और चारणमुनियों की आकाशगामिनी आदि ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं ॥१६१॥

गाथा— सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

छाया— शिवमजरामरलिंगं अनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।
प्राप्ता वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः ॥१६२॥

अर्थ— जिनेन्द्र के स्वरूप की भावना सहित जीव उस उत्तम मोक्ष सुख को पाते हैं, जो कल्याणरूप है, जरामरणरहित होना जिसका चिह्न है, उपमारहित है, सब से उत्कृष्ट है, सब प्रकार के कर्ममल से रहित है और तुलनारहित है ॥१६२॥

गाथा— ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
दितुं वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥१६३॥

छाया— ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः शुद्धाः निरञ्जना नित्याः ।
ददतु वरभावशुद्धिं दर्शने ज्ञाने चारित्रे च ॥१६३॥

अर्थ— वे सिद्ध परमेष्ठी मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण में उत्तम भावों की शुद्धता प्रदान करें, जो तीन लोक में पूजनीय, विशुद्ध, कर्ममलरहित और नित्य हैं ॥१६३॥

गाथा—किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णेवि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६४॥

छाया—किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षौ च ।
अन्येऽपि च व्यापाराः भावे परिस्थिताः सर्वे ॥१६४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं बहुत कहने से क्या लाभ है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तथा अन्य जो कुछ कार्य हैं, वे सब शुद्धभाव के ही आधीन हैं ।

गाथा—इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥

छाया—इति भावप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक्।
यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥१६५॥

अर्थ—इस प्रकार सर्वज्ञ देव ने इस भावप्राभृत नामक शास्त्र का भलीभांति उपदेश दिया है। जो भव्यजीव इसको उत्तम रीति से पढ़ता है, सुनता है और भावना करता है वह निश्चल स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १६५ ॥

॥ (६) मोक्ष पाहुड ॥

गाथा—णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

छाया—ज्ञानमय आत्मा उपलब्धः येन-क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥ १ ॥

अर्थ—कर्मों का क्षय करने वाले जिसने परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानरूप आत्मा को प्राप्त किया है, उस देव के लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥

गाथा—णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

छाया—नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धम् ।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन को धारण करने वाले तथा १८ दोषरहित सर्वज्ञ वीतराग देव को नमस्कार करके श्रेष्ठ ध्यान वाले मुनियों के लिये, उत्कृष्ट पद के धारक परमात्मा का स्वरूप कहूंगा ॥ २ ॥

गाथा—जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं ।
अव्वावाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥ ३ ॥

छाया—यत् ज्ञात्वा योगी योगस्थः दृष्ट्वा अनवरतम् ।
अव्याबाधमनन्तं अनुपमं लभते निर्वाणम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसको जानकर ध्यान में स्थित (लगा हुआ) योगी सदैव उस परमात्मा का अनुभव करता हुआ बाधा रहित, अविनाशी और उपमारहित मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

गाथा—तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जई अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥ ४ ॥

छाया—त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तः बहिः तु हित्वा।
तत्र परं ध्यायते अन्तरूपायेन त्यज बहिरात्मानम ॥ ४ ॥

अर्थ—वह आत्मा तीन प्रकार का है—परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा। उनमें बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा अर्थात् भेदज्ञानी होकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है। इसलिये हे मुनि! तू शरीर और आत्मा को अभिन्न मानने वाले बहिरात्मा के परिणामों का त्याग कर ॥ ४ ॥

गाथा—अक्खाणि बहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥

छाया—अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः।
कर्मकलंकविमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥ ५ ॥

अर्थ—स्पर्शनादि इन्द्रियां तो बहिरात्मा हैं और अन्तरंग में प्रगट अनुभव रूप आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रूप कलंकरहित आत्मा परमात्मा है, और वही देव है ॥ ५ ॥

गाथा—मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

छाया—मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलः विशुद्धात्मा।
परमेष्ठी परमजिनः शिवंकरः शाश्वतः सिद्धः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो कर्मरहित है, शरीररहित इन्द्रिय ज्ञान रहित है, केवल ज्ञानी है, अत्यन्त शुद्ध आत्मा वाला है, परमपद में स्थित (ठहरा हुआ) है, सब कर्मों को जीतने वाला है, जीवों का कल्याण करने वाला है, अविनाशी है और सिद्ध पद को प्राप्त कर चुका है, वह परमात्मा कहलाता है ॥ ६ ॥

गाथा—आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ७ ॥

छाया—आरूह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥ ७ ॥

अर्थ—मन वचन काय से बहिरात्मा को छोड़कर और अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥ ७ ॥

गाथा—बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ८ ॥

छाया—बहिरर्थे स्फुरितमनाः इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः।
निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा स्त्री पुत्रादि बाह्य पदार्थों में मन लगाकर और इन्द्रियों के द्वारा अपने स्वरूप को भूलकर अर्थात् इन्द्रियों को आत्मा समझकर अपने शरीर को ही आत्मा जानता है ॥ ८ ॥

गाथा—णियदेहसरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अचेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥

छाया—निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनं अपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर उसको अचेतन रूप से ग्रहण करने पर भी बड़े यत्न से दूसरे की आत्मारूप विचार करता है ॥ ९ ॥

गाथा—सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥ १० ॥

छाया—स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम्।
सुतदारादि विषये मनुजानां वर्द्धते मोहः ॥ १० ॥

अर्थ—मोही जीव देहादि में अपने और दूसरे की आत्मा का निश्चय करने से आत्मा के असली स्वरूप को नहीं जानता है। इसलिये स्त्री पुत्रादि में मनुष्यों का मोह बढ़ता है ॥ १० ॥

गाथा—मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ ॥११॥

छाया—मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अंगं स्वं मन्यते मनुजः ॥११॥

अर्थ—मिथ्याज्ञान में लीन हुआ मनुष्य मिथ्या परिणाम की भावना रखता हुआ मिथ्यात्व कर्म के उदय से फिर भी शरीर को आत्मा मानता है ॥११॥

गाथा—जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

छाया—यः देहे निरपेक्षः निर्द्वंद्वः निर्ममः निरारम्भः।
आत्मस्वभावे सुरत; योगी स लभते निर्वाणम् ॥१२॥

अर्थ—जो योगी शरीर में उदासीन हैं, रागद्वेषादि कलह रहित है, ममत्व रहित है, खेती व्यापारादि आरम्भरहित है और आत्मा के स्वभाव में पूरी तरह लीन है वह मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१२॥

गाथा—परदव्वरओ वज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमोक्खस्य ॥१३॥

छाया—परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः।
एषः जिनोपदेश; समासतः बन्धमोक्षयोः ॥१३॥

अर्थ—जो जीव शरीरादि पर पदार्थों में राग रखता है वह अनेक प्रकार के कर्मों से बँधता है, और जो पर पदार्थों में उदासीन रहता है वह अनेक प्रकार के कर्मों से नहीं बँधता है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवाम् ने संक्षेप से बन्ध और मोक्ष के स्वरूप का उपदेश दिया है ॥१३॥

गाथा—सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणओ उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥१४॥

छाया—स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिः भवति नियमेन।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥१४॥

अर्थ—जो मुनि अपनी आत्मा में लीन है अर्थात् श्रद्धान करता है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है। तथा वही सम्यक्त्व परिणाम वाला मुनि दुष्ट आठों कर्मों का नाश करता है ॥१४॥

गाथा—जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण वज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

छाया—यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिः भवति सः साधुः।
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥१५॥

अर्थ—जो मुनि स्त्रीपुत्रादि पर पदार्थों में राग करता है वह मिथ्यादृष्टी होता है। तथा मिथ्यात्व परिणाम वाला वह मुनि दुष्ट आठों कर्मों से बँधता है ॥१५॥

गाथा—परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

छाया—परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरतिं इतरस्मिन् ॥१६॥

अर्थ—दूसरे पदार्थ में राग करने से खोटी गति में उत्पन्न होता है और अपनी आत्मा में प्रेम करने से अच्छी गति प्राप्त होती है। ऐसा जानकर हे भव्य-जीव! तुम अपनी आत्मा में प्रेम करो और दूसरे पदार्थों में राग मत करो ॥१६॥

गाथा—आदसहावादण्णं सचित्ताचित्तमिस्सियं हवइ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥१७॥

छाया—आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचित्तमिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥१७॥

अर्थ—आत्मस्वभाव से भिन्न जो स्त्री पुत्रादि चेतन पदार्थ, धनधान्यादि अचेतन पदार्थ, और आभूषणादि सहित स्त्रीपुत्रादि मिश्र पदार्थ हैं वे परद्रव्य हैं, ऐसा परद्रव्य का सच्चा स्वरूप सर्वज्ञ भगवान् नें कहा है ॥१७॥

गाथा—दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥

छाया—दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।
शुद्धं जिनैः कथितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

अर्थ—जो दुखदाई आठों कर्मों से रहित है, उपमारहित है, ज्ञानरूप शरीरवाला है, अविनाशी और शुद्ध है, ऐसा आत्मा जिन भगवान् के द्वारा स्वद्रव्य कहा गया है ॥१८॥

गाथा—जे झायंति सदव्वं परदव्वपरंमुहा हु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥१९॥

छाया—ये ध्यायन्ति स्वद्रव्यं परद्रव्यपराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गे अनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम् ॥१९॥

अर्थ—जो मुनि पर पदार्थों का त्यागकर आत्मा का ध्यान करते हैं वे निर्मल चारित्र वाले होते हैं और जिनेश्वरों के मार्ग में लगकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१९॥

गाथा—जिणवरमयेण जोई झाणे झाएह सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

छाया—जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥२०॥

अर्थ—जिन भगवान् के मत से योगी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है जिससे मोक्ष पाता है। उस आत्मध्यान से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं करता है अर्थात् अवश्य प्राप्त करता है ॥२०॥

गाथा—जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेइ गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहुभुवणयले ॥२१॥

छाया—यः याति योजनशतं दिवसेनैकेन लात्वा गुरुभारं ।
स किं क्रोशार्द्धमपि स्फुटं न शक्नोति यातुं भुवनतले ॥२१॥

अर्थ—जो पुरुष भारी बोझ लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है वह क्या भूमि पर आधा कोस भी नहीं चल सकता अर्थात् सरलता से चल सकता है ॥ २१ ॥

गाथा—जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।
सो किं जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

छाया—यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्व्वैः ।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥

अर्थ—जो योद्धा लड़ाई में करोड़ योद्धाओं से भी नहीं जीता जाता, क्या वह एक मनुष्य से जीता जा सकता है अर्थात् नहीं ॥२२॥

गाथा—सग्गं तवेण सव्वो वि पावए किंतु झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोये सासयं सोक्खं ॥ २३ ॥

छाया—स्वर्गं तपसा सर्वः अपि प्राप्नोति किन्तु ध्यानयोगेन ।
यः प्राप्नोति सः प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥

अर्थ—तप के द्वारा तो सब ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं, किन्तु जो ध्यान के द्वारा स्वग प्राप्त करता है वह परलोक में अविनाशी सुखरूप मोक्ष को पाता है ॥ २३ ॥

गाथा—अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ होई ॥ २४ ॥

छाया—अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेम भवति यथा तथा च ।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसे शोधने की सुन्दर सामग्री के सम्बन्ध से सुवर्ण पाषाण शुद्ध सोना बन जाता है, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदि के सम्बन्ध से संसारी आत्मा परमात्मा हो जाता है ॥ २४ ॥

गाथा—वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

छाया—वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः ।
छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥ २५ ॥

अर्थ—व्रत और तप से स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप से नरक में दुःख प्राप्त होना ठीक नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठने वालों में

बहुत भेद होता है, वैसे ही व्रत और अव्रत पालने वालों में बहुत भेद है ॥ २५ ॥

गाथा—जो इच्छइ णिस्सरिहुँ संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

छाया—यः इच्छति निःसर्तुं संसारमहार्णवात् रुद्रात् ।
कर्मेन्धनानां दहनं सः ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मुनि बहुत बड़े संसाररूपी समुद्र से पार होना चाहता है वह कर्मरूपी इन्धन को जलाने वाले आत्मा का ध्यान करता है ॥ २६ ॥

गाथा—सव्वे कसायमुत्तं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥ २७ ॥

छाया—सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागदोषव्यामोहम् ।
लोकव्यवहारविरतः आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥ २७ ॥

अर्थ—ध्यान में स्थित मुनि सब कषायों को तथा गौरव, मद, राग, द्वेष, मोह आदि परिणामों को छोड़कर लोक व्यवहार से विरक्त होता हुआ आत्मा का चिन्तवन करता है ॥ २७ ॥

गाथा—मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

छाया—मिथ्यात्वं अज्ञानं पापं पुण्यं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
मौनव्रतेन योगी योगस्थः द्योतयति आत्मानम् ॥ २८ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप, पुण्य आदि को मन, वचन, काय से छोड़कर मौनव्रत से ध्यान में बैठा हुआ आत्मा का चिन्तवन करता है ॥ २८ ॥

गाथा—जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥ २९ ॥

छाया—यत् मया दृश्यते रूपं तत् न जानाति सर्वथा ।
ज्ञायकं दृश्यते न तत् तस्मात् जल्पामि केन अहम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जिस मूर्तिक शरीरादि को मैं देखता हूं वह अचेतन होने के कारण निश्चय से कुछ भी नहीं जानता । तथा जो मैं ज्ञायक और अमूर्तिक हूं सो दिखाई नहीं देता, इसलिये मैं किससे बोलूं । अतः मौन रहना ही उचित है ॥२९॥

गाथा—सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवइ संचियं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥ ३० ॥

छाया—सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षपयति संचितम् ।
योगस्थः जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यान में स्थित योगी सब कर्मों के आस्रव को रोककर पहले बँधे हुए कर्मों का नाश करता है और फिर केवल ज्ञान से सब पदार्थों को जानता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥ ३० ॥

गाथा—जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥ ३१ ॥

छाया—यः सुप्तः व्यवहारे सः योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यः जागर्ति व्यवहारे सः सुप्तः आत्मनः कार्ये ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मुनि व्यवहार के कामों में सोता (उदासीन) है, वह अपने आत्मध्यान के कार्य में जागता (सावधान) है, तथा जो व्यवहार के कामों में जागता (सावधान) है वह आत्मस्वरूप के चिन्तवन में सोता (उदासीन) है अर्थात् अपने स्वरूप को नहीं जानता ॥ ३१ ॥

गाथा—इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥ ३२ ॥

छाया—इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।
ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥ ३२ ॥

अर्थ—ऐसा जानकर योगी व्यवहार के सब कामों को बिलकुल छोड़ देता है और जैसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है उसी प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है ॥ ३२ ॥

गाथा—पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदा कुणह ॥ ३३ ॥

छाया—पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥ ३३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे मुनि ! तू पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति तथा रत्नत्रय को धारण करके ध्यान और अध्ययन (शास्त्र पढ़ना) का अभ्यास कर ॥ ३३ ॥

गाथा— रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३४ ॥

छाया—रत्यत्रयमाराधयन् जीवः आराधकः मुनितव्यः ।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलज्ञानम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव को आराधक समझना चाहिये तथा आराधना करने का फल केवल ज्ञान है ॥ ३४ ॥

गाथा—सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सा जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥ ३५ ॥

छाया—सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो स्वयं सिद्ध है, कर्ममलरहित है, सब पदार्थों को जानने वाला और देखने वाला है, ऐसा आत्मा का स्वरूप जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया है। हे मुनि ! तू उस आत्मा को केवल ज्ञान जान, अथवा केवल ज्ञान को आत्मा जान । इस प्रकार अभेद नय से गुण गुणी का वर्णन किया ॥ ३५ ॥

गाथा—रयणत्तयं पि जोई आराहइ जोहु जिणवरमएण ।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो ॥ ३६ ॥

छाया—रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।
स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो योगी जिनेन्द्रदेव के मत से रत्नत्रय की आराधना करता है, वह प्रगट रूप से आत्मा का ध्यान करता है, तथा पुद्गल आदि परद्रव्य को छोड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ३६ ॥

गाथा—जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७ ॥

छाया—यज्जानाति तज्ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।
तच्चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वह दर्शन है और जो पुण्य पाप क्रियाओं का त्याग है सो चारित्र है। इस प्रकार अभेदरूप से आत्मा और रत्नत्रय का वर्णन किया ॥ ३७ ॥

गाथा—तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पयप्पियं जिणवरिंदेहिं ॥ ३८ ॥

छाया—तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जीवादि तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। उन्हीं तत्वों को ठीक २ जानना सो सम्यग्ज्ञान है तथा हिंसादि पाप क्रियाओं का त्याग करना सो सम्यक् चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥ ३८ ॥

गाथा—दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ ३९ ॥

छाया—दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध पुरुष ही वास्तव में शुद्ध है, क्योंकि जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही मोक्ष प्राप्त करता है। तथा जो पुरुष सम्यग्दर्शन रहित है वह अपने इच्छित लाभ अर्थात् मोक्ष को नहीं पाता ॥ ३९ ॥

गाथा—इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥ ४० ॥

छाया—इति उपदेशं सारं जरामरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥ ४० ॥

अर्थ—ऐसा रत्नत्रय का उपदेश बहुत ही उत्तम और बुढ़ापा, मृत्यु आदि का नाश करने वाला है। जो इसका यथार्थ श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन मुनियों और श्रावकों के लिये कहा गया है ॥ ४० ॥

गाथा—जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

छाया—जीवाजीवविभक्तं योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो योगी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से जीव और अजीव के भेद को जानता है वह सर्वज्ञ देव के द्वारा यथार्थ रूप से सम्यग्ज्ञान कहा गया है ॥ ४१ ॥

गाथा—जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहियेण ॥ ४२ ॥

छाया—यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयोः ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितेन ॥ ४२ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि जिस जीवाजीव के भेद को जानकर पुण्य व पाप क्रियाओं का त्याग करता है, वह विकल्प रहित यथाख्यात चारित्र है; ऐसा घातिया कर्मों के नाश करने वाले सर्वज्ञदेव ने कहा है ॥ ४२ ॥

गाथा—जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

छाया—यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या।
सः प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥४३॥

अर्थ—जो संयमी मुनि रत्नत्रय को धारण करके अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है, वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥४३॥

गाथा—तिहि तिण्ण धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तियेण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥

छाया—त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकरितः।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥४४॥

अर्थ—ध्यानी मुनि मन, वचन काय से वर्षा, गर्मी सरदी आदि तीनों कालों में योग (समाधि) धारण करके सदैव माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीन शल्यों का त्याग करता है। तथा रत्नत्रय से सुशोभित और रागद्वेषरूप दोषों से रहित होकर परमात्मा का ध्यान करता है ॥४४॥

गाथा—मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

छाया—मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यः जीवः।
निर्मलस्वभावयुक्तः सः प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

अर्थ—जो जीव मद, माया, क्रोध और लोभरहित है, वह निर्मल स्वभावसहित होकर उत्तम सुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥४५॥

गाथा—विसयकसाएहिं जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

छाया—विषयकषायैः युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखः जीवः ॥४६॥

अर्थ—जो जीव विषय कषायों में आसक्त (लीन) है, रुद्र परिणामी है अर्थात् हिंसादि पापों में हर्ष मानता है, और जिसके मनमें परमात्मा की भावना नहीं है, वह जीव जिनमुद्रा से भ्रष्ट होता है इसलिए मोक्षसुख को नहीं पाता है ॥४६॥

गाथा—जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा ।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

छाया—जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा ।
स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवाः तिष्ठन्ति भवगहने ॥४७॥

अर्थ—जिनदेव के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा ही निश्चय से मोक्षसुख है अर्थात् परम्परा से मोक्ष का कारण है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा स्वप्न में भी अच्छी नहीं लगती वे संसार रूपी घने बन में रहते हैं ॥४७॥

गाथा—परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

छाया—परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥४८॥

अर्थ—परमात्मा का ध्यान करता हुआ योगी पाप उत्पन्न करने वाले लोभ से छूट जाता है। तथा लोभरहित मुनि नवीन कर्मों को नहीं बांधता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥४८॥

गाथा—होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईयो ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥

छाया—भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥

अर्थ—इस प्रकार योगी दृढ़ सम्यक्त्व और चारित्र को मन में धारण करके आत्मा का ध्यान करता हुआ उत्कृष्ट पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥४९॥

गाथा—चरणं हवइ सधम्मो धम्मोसो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्ण परिणामो ॥५०॥

छाया—चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः।
स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

अर्थ—चारित्र आत्मा का धर्म (स्वरूप) है और वह धर्म सब जीवों में समानभाव रखना है। वह रागद्वेषरहित चारित्र जीव का ही अभिन्न परिणाम है ॥५०॥

गाथा—जहफलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥ ५१ ॥

छाया—यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतः भवत्यन्यः सः।
तथा रागादिवियुक्तः जीवः भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल होता है और रंग बिरंगी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से दूसरे ही रंग का दिखने लगता है। वैसे ही स्वभाव से शुद्ध जीव रागद्वेषादि भावों के सम्बन्ध से दूसरी ही तरह का दिखने लगता है ॥ ५१ ॥

गाथा—देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥ ५२ ॥

छाया—देवे गुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः।
सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥ ५२ ॥

अर्थ—देव और गुरु में भक्ति करने वाला, समान धर्म वालों और संयमी मुनियो में सच्चा प्रेम रखने वाला और सम्यक्त्व को धारण करता हुआ योगी ध्यान में लीन होता है ॥ ५२ ॥

गाथा—उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥ ५३ ॥

छाया—उग्रतपसाऽज्ञानी यत् कर्म क्षपयति भवैर्बहुकैः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिः गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—अज्ञानी मुनि कठिन तप के द्वारा करोड़ों जन्म में जितने कर्मों का नाश करता है, उतने कर्मों को ज्ञानी मुनि तीन गुप्तियों के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में नाश कर देता है ॥ ५३ ॥

गाथा—सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ॥ ५४ ॥

छाया—शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः ।
सः तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—साधु इष्टवस्तु के सम्बन्ध से परद्रव्य में रागभाव करता है। उस रागभाव से वह साधु अज्ञानी कहलाता है और इससे उल्टे परिणाम वाला ज्ञानी कहलाता है ॥ ५४ ॥

गाथा—आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।
सो तेण हु अण्णाणी आदसहावा हु विवरीओ ॥ ५५ ॥

छाया—आस्रवहेतुश्च तथा भावः मोक्षस्य कारणं भवति ।
सः तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात्तु विपरीतः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जैसे परद्रव्य में रागभाव आस्रव का कारण कहा गया है, वैसे ही मोक्ष का कारण रागभाव भी आस्रव का कारण होता है। उस रागभाव से वह साधु अज्ञानी हो जाता है जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत है ॥ ५५ ॥

गाथा—जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो ।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥ ५६ ॥

छाया—यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकरः ।
सः तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषकः भणितः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान ही को मानता है, वह केवल ज्ञान के खण्ड रूप दोष को पैदा करने वाला है। उस ज्ञान के द्वारा वह पुरुष अज्ञानी तथा जिनमत में दोष लगाने वाला होता है ॥ ५६ ॥

गाथा—णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥ ५७ ॥

छाया—ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम्।
अन्येषु भावरहितं लिंगग्रहणेन किं सौख्यम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जहां ज्ञान चारित्र रहित है, दर्शन रहित किन्तु तप सहित है, तथा जहां अन्य आवश्यकादि क्रियाओं में शुद्धभाव नहीं है, ऐसे भेषमात्र को धारण करने वाले मुनि के क्या मोक्ष सुख हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

गाथा—अचेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥ ५८ ॥

छाया—अचेतनमपि चेतनं यः मन्यते सः भवति अज्ञानी।
स पुनः ज्ञानी भणितः यः मन्यते चेतने चेतनम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो अचेतन को चेतन मानता है वह अज्ञानी है, और जो चेतन को चेतन मानता है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥ ५८ ॥

गाथा—तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवोवि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ ५९ ॥

छाया—तपोरहितं यज्ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपः अपि अकृतार्थम्।
तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—तपरहित ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान रहित तप भी व्यर्थ है। इसलिये ज्ञान-सहित तप धारण करने वाला मुनि मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

गाथा—धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

छाया—ध्रुवसिद्धिस्तीर्थकरः चतुर्ज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि ॥ ६० ॥

अर्थ—जिसको निश्चय से मोक्ष प्राप्त होगा और जो चार ज्ञान सहित है ऐसा तीर्थंकर भी तपश्चरण करता है। ऐसा निश्चय से जानकर ज्ञानवान् पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिये ॥ ६० ॥

गाथा—बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतर लिंगरहिय परियम्मो ।
सो समचरित्त भट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

छाया—बाह्यलिंगेन युतः अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा ।
सः स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो बाह्यलिंग (नग्नमुद्रा) सहित है और अभ्यन्तरलिंग (आत्मा के अनुभव) रहित होकर अंगसंस्कार करने वाला है। ऐसा साधु अपने यथाख्यात चारित्र से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग का नाश करने वाला होता है ॥ ६१ ॥

गाथा—सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥ ६२ ॥

छाया—सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ।

अर्थ—सुख से उत्पन्न होने वाला ज्ञान दुःख पड़ने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए योगी को अपनी शक्ति के अनुसार परीषह उपसर्गादि का अभ्यास करना चाहिये ॥ ६२ ॥

गाथा— आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण ।
झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरूपसाएण ॥६३॥

छाया—आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन ।
ध्यातव्यः निजात्मा ज्ञात्वा गुरूप्रसादेन ॥ ६३ ॥

अर्थ— जैन सिद्धान्त के अनुसार आहार आसन और निद्रा को जीत कर तथा गुरू की कृपा से आत्मा को जान कर उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ६३ ॥

गाथा— अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरूपसाएण ॥ ६४ ॥

छाया— आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुतः आत्मा ।
सः ध्यातव्यः नित्यं ज्ञात्वा गुरूप्रसादेन ॥ ६४ ॥

अर्थ— आत्मा चारित्रवान् है तथा ज्ञान और दर्शन सहित है । ऐसे आत्मा को गुरू की कृपा से जान कर हमेशा उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ६४ ॥

गाथा— दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥ ६५ ॥

छाया— दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।
भावितस्वभावपुरुषः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥ ६५ ॥

अर्थ— आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है और आत्मा को जान कर रात-दिन उसके गुणों का चिन्तवन करना और भी कठिन है । तथा आत्मा की भावना करने वाला पुरुष भी बड़ी कठिनता से विषयों से विरक्त (उदास) होता है ॥ ६५ ॥

गाथा— ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥ ६६ ॥

छाया— तावन्न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत् ।
विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥ ६६ ॥

अर्थ— जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में लगा रहता है तब तक आत्मा को नहीं जानता है । इस लिए विषयों से विरक्त हुआ योगी ही आत्मा को जानता है ॥ ६६ ॥

गाथा— अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपरिभट्टा ।
हिंडंति चाउरंगं विसयेसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

छाया— आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित् सद्भावभावपरिभ्रष्टाः ।
हिण्डन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिताः मूढाः ॥ ६७ ॥

अर्थ— विषयों में मोहित हुए कुछ मूर्ख पुरुष आत्मा को जान कर भी अपने शुद्धभावों से भ्रष्ट होकर चतुर्गति रूप संसार में घूमते हैं ॥ ६७ ॥

गाथा— जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ६८ ॥

छाया— ये पुनः विषयविरक्ताः आत्मानं ज्ञात्वाभावनासहिताः ।
त्यजन्ति चातुरंगं तपोगुणयुक्ताः न सन्देहः ॥ ६८ ॥

अर्थ— जो मुनि विषयों से विरक्त होकर और आत्मा को जान कर बार २ उसका चिन्तवन करते हैं, वे बारह तप और मूलगुण तथा उत्तर गुणसहित होकर चतुर्गति रूप संसार को छोड़ देते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

गाथा— परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥ ६९ ॥

छाया— परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।
सः मूढः अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥ ६९ ॥

अर्थ— जिस मनुष्य के मोह के कारण परद्रव्य में लेशमात्र भी राग होता है, वह मूर्ख अज्ञानी है और आत्मा के स्वभाव से विपरीत है ॥ ६९ ॥

गाथा— अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ ७० ॥

छाया— आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणां ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥ ७० ॥

अर्थ— विषयों से विरक्तचित्तवाले, शुद्ध सम्यग्दर्शन और दृढचारित्र धारण करने वाले तथा आत्मा का ध्यान करने वाले मुनियों को निश्चय से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

गाथा— जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥ ७१ ॥

छाया— येन रागः परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यात् आत्मनि स्वभावनाम् ॥ ७१ ॥

अर्थ— जिस कारण से परद्रव्य में किया हुआ रागभाव संसार का कारण है, इसीलिये योगी को हमेशा आत्मा की भावना करनी चाहिये ॥ ७१ ॥

गाथा— णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणं चेव बधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ७२ ॥

छाया— निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च।
शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥ ७२ ॥

अर्थ— निन्दा और प्रशंसा में, दुःख और सुख में तथा शत्रु और मित्र में समता परिणाम होने पर यथाख्यात चारित्र होता है ॥ ७२ ॥

गाथा— चरियावरिका वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

छाया— चर्यावरिका व्रतसमितिवर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः।
केचित् जल्पन्ति नराः नहि कालो ध्यानयोगस्य ॥ ७३ ॥

अर्थ— जिनका चारित्र आवरणसहित है, जो व्रत और समिति रहित हैं तथा शुद्ध भावों से अत्यन्त भ्रष्ट हैं, ऐसे कुछ मिथ्यादृष्टी लोग कहते हैं कि यह पञ्चम काल ध्यानयोग का समय नहीं है ॥ ७३ ॥

गाथा— सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

छाया— सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवः स्फुटं मोक्षपरिमुक्तः।
संसारसुखे सुरतः न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य ॥ ७४ ॥

अर्थ— जो जीव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहित है, अभव्य है, मोक्षमार्ग से अलग है तथा संसार के सुख में अत्यन्त आसक्त है वह कहता है कि यह ध्यान का समय नहीं है ॥ ७४ ॥

गाथा— पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

छाया— पंचसु महाव्रतेषु च पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
यः मूढः अज्ञानी न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य ॥ ७५ ॥

अर्थ— जो जीव पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों के स्वरूप को नहीं जानता है वह ऐसा कहता है कि वास्तव में यह ध्यान का समय नहीं है ॥ ७५ ॥

गाथा— भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ ७६ ॥

छाया— भरते दुःषमकाले धर्मध्यानं भवति साधोः ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥ ७६ ॥

अर्थ— इस भरतक्षेत्र में पंचम काल में दिगम्बर साधु के धर्मध्यान होता है और वह ध्यान आत्मा की भावना में लगे हुए मुनि के ही होता है, ऐसा जो नहीं मानता है वह पुरुष भी अज्ञानी है ॥ ७६ ॥

गाथा— अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

छाया— अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभन्ते इन्द्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्त्वा निर्वाणं यान्ति ॥ ७७ ॥

अर्थ— इस पंचम काल में भी मुनि रत्नत्रय से पवित्र होते हैं । वे आत्मा का ध्यान करके इन्द्र का पद तथा लौकान्तिक देवों का पद पाते हैं और वहां से चय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ७७ ॥

गाथा— जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

छाया— ये पापमोहितमतयः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥ ७८ ॥

अर्थ— जो पापबुद्धि वाले मुनि तीर्थंकरों की नग्नमुद्रा धारण करके भी पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत अर्थात् भ्रष्ट हैं ॥ ७८ ॥

गाथा— जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला ।
आधा कम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७९ ॥

छाया— ये पंचचेलसक्ताः ग्रन्थग्राहिणः याचनाशीलाः ।
अधः कर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥ ७९ ॥

अर्थ— जो पांच प्रकार के वस्त्रों में से किसी एक को धारण करते हैं, धनधान्यादि परिग्रह रखते हैं, जिनका मांगने का ही स्वभाव है और जो नीच कार्य में लगे रहते हैं, वे मुनि मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं ॥ ७९ ॥

गाथा— णिग्गंथ मोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥

छाया— निर्ग्रन्थाः मोहमुक्ताः द्वाविंशतिपरीषहाः जितकषायाः ।
पापारंभविमुक्ताः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥ ८० ॥

अर्थ— जो परिग्रह रहित हैं, स्त्रीपुत्रादि के मोह से रहित हैं, बाईस परीषहों को सहते हैं, कषायों को जीतने वाले हैं, पापरूप आरम्भ रहित हैं वे मुनि मोक्षमार्ग में ग्रहण किये गये हैं ॥ ८० ॥

गाथा— उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी ।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥ ८१ ॥

छाया— ऊर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी ।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवन्ति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥ ८१ ॥

अर्थ— ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही हूं । ऐसी भावना के द्वारा योगी लोग निश्चय से अविनाशी सुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ८१ ॥

गाथा— देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८२ ॥

छाया— देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरम्परां विचिन्तयन्तः ।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥ ८२ ॥

अर्थ— जो देव और गुरू के भक्त हैं, वैराग्य भावना का विचार करते रहते हैं, ध्यान में लीन रहते हैं और उत्तम चारित्र पालते हैं, वे मुनि मोक्षमार्ग में ग्रहण किये गये हैं ॥ ८२ ॥

गाथा—णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहई णिव्वाणं ॥ ८३ ॥

छाया—निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः ।
स भवति स्फुटं सुचरित्रः योगी सः लभते निर्वाणम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा के लिये आत्मा में लीन हो जाता है, वह योगी सम्यक् चारित्र धारण करने वाला होता है और वही मोक्ष को पाता है ॥ ८३ ॥

गाथा—पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥ ८४ ॥

छाया—पुरुषाकारः आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यः ध्यायति सः योगी पापहरः भवति निर्द्वन्द्वः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो आत्मा पुरुष के आकार है, योगी (गृह त्यागी) है, केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित है। ऐसी आत्मा का जो मुनि ध्यान करता है वह पापों को दूर करने वाला और रागद्वेष के झगड़ों से रहित है ॥ ८४ ॥

गाथा—एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाणं पुण सुणसु ।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥ ८५ ॥

छाया—एवं जिनैः कथितं श्रमणानां श्रावकाणां पुनः शृणुत ।
संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं प्रथमम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के ध्यान का कथन किया, अब श्रावकों का ध्यान कहते हैं, सो सुनो। वह उपदेश संसार का नाश करने वाला और मोक्ष का उत्कृष्ट कारण है ॥ ८५ ॥

गाथा—गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ८६ ॥

छाया—गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरिरिव निष्कम्पम् ।
तत् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ॥ ८६ ॥

अर्थ—हे श्रावक ! अतीचाररहित और मेरु पर्वत के समान स्थिर अर्थात् चल, मलिन, अगाढ़ दोष रहित सम्यग्दर्शन को धारण करके कर्मों का नाश करने के लिये उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ८६ ॥

गाथा—सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥ ८७ ॥

छाया—सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो श्रावक सम्यग्दर्शन का चिन्तवन करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है। तथा सम्यक्त्व परिणाम वाला जीव दुष्ट आठों कर्मों का नाश करता है ॥ ८७ ॥

गाथा—किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जेवि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥ ८८ ॥

छाया—किं बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले ।
सेत्स्यन्ति ये ऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या लाभ है, जो उत्तम मनुष्य भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और जो भव्य जीव भविष्यत् काल में सिद्ध होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन की महिमा जानो ॥ ८८ ॥

गाथा ते धण्णा सुकयत्त्था ते सूरा तेवि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणेवि ण मइलियं जेहिं ॥ ८९ ॥

छाया—ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेऽपि पण्डिताः मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्ने ऽपि न मलिनितं यैः ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने मुक्ति को देने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वे पुरुष पुण्यवान् हैं, सफल मनोरथ हैं, शूरवीर हैं और अनेक शास्त्रों को जानने वाले पण्डित हैं ॥ ८९ ॥

गाथा—हिंसार हिएधम्मे अट्ठारहदोसवज्जिये देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९० ॥

छाया—हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषर्जितेदेवे।
निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ ९० ॥

अर्थ—हिंसारहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में और मोक्ष मार्ग का उपदेश करने वाले निर्ग्रन्थ गुरू में श्रद्धान रखना सो सम्यग्दर्शन है ॥ ९० ॥

गाथा— जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्त ।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥ ९१ ॥

छाया— यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम् ।
लिंगं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥ ९१ ॥

अर्थ— नवीन उत्पन्न हुए बालक के रूप के समान जिसका रूप है, जो उत्तम संयम सहित है, सब प्रकार की परिग्रह से रहित है और जिसमें दूसरी वस्तु की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है, ऐसे निर्ग्रन्थ लिंग को जो मानता है—उसके सम्यग्दर्शन होता है ॥ ९१ ॥

गाथा— कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदये जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥ ९२ ॥

छाया— कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यस्तु।
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिः भवेत् स स्फुटम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य खोटे देव, खोटे धर्म और खोटे गुरू को लज्जा, भय और बड़प्पन के कारण नमस्कार करता है वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है ॥९२॥

गाथा— सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असजंय वंदे ।
माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥ ९३ ॥

छाया— स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देवं असंयतं वन्दे ।
मानयति मिथ्यादृष्टिः न स्फुटं मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥ ९३ ॥

अर्थ—स्वयं अथवा दूसरे के आग्रह से धारण किये हुए भेष को, रागी और संयमरहित देव को "मैं नमस्कार करता हूं" ऐसा जो कहता है अथवा उनका आदर करता है वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टी उनका श्रद्धान तथा आदर नहीं करता है ॥ ९३ ॥

गाथा— सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ९४ ॥

छाया— सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥९४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक जिन भगवान् के कहे हुए धर्म को धारण करता है। जो मनुष्य इससे विपरीत धर्म को धारण करता है वह मिथ्यादृष्टी जानना चाहिए ॥९४॥

गाथा—मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥ ९५ ॥

छाया—मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः ।
जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यादृष्टि है वह जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुःख सहित भ्रमण करता रहता है ॥ ९५ ॥

गाथा—सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
जं ते मणस्स रूच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥ ९६ ॥

छाया—सम्यक्त्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत् कुरु ।
यत् ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥ ९६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! सम्यक्त्व गुण रूप है और मिथ्यात्व दोष रूप है। यह बात मन से अच्छी तरह विचारकर जो तेरे मन को अच्छा लगे वही कार्य कर, बहुत कहने से क्या लाभ है अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ९६ ॥

गाथा—बाहिरसंगविमुक्को णवि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं णवि जाणदि अप्पसमभावं ॥ ९७ ॥

छाया—बहिः संगविमुक्तः नापि मुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः ।
किं तस्य स्थानमौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो दिगम्बर वेषधारी जीव बाह्य परिग्रह रहित है और मिथ्यात्व परिणाम का त्यागी नहीं है, उसके कायोत्सर्गादि आसन और मौन धारण करने से क्या लाभ है। तथा वह सब जीवों के समानतारूप परिणाम को नहीं जानता है ॥ ९७ ॥

गाथा—मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगोणिच्चं ॥ ९८ ॥

छाया—मूलगुणं छित्वा च बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिंगविराधकः नित्यम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो निर्ग्रन्थ मुनि अठाईस मूलगुणों को बिगाड़कर कायोत्सर्गादि बाह्य क्रिया करता है वह मोक्ष सुख नहीं पाता है, क्योंकि वह सदा जिनलिंग को दोष लगाता है ॥ ९८ ॥

गाथा—किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्सविवरीदो ॥ ९९ ॥

छाया—किं करिष्यति बहिः कर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं तु ।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥ ९९ ॥

अर्थ—आत्मा के स्वभाव से विपरीत पठन पाठन आदि बाह्य क्रिया से, बहुत प्रकार के उपवास से, तथा आतपन योग आदि कायक्लेश से क्या कार्य सिद्ध होगा अर्थात् मोक्षरूप कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ९९ ॥

गाथा—जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं य चारित्तं ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ १०० ॥

छाया—यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधं च चारित्रम् ।
तं बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥ १०० ॥

अर्थ—जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत बहुत से शास्त्रों को पढ़ता है और बहुत प्रकार का आचरण करता है वह सब मूर्खों का शास्त्र ज्ञान और मूर्खों का चारित्र है ॥ १०० ॥

गाथा—वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छियो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ १०२ ॥

छाया—वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च यः भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥ १०१ ॥

गुणगणविभूषितांगः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः सः प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो साधु वैराग्य में तत्पर है, पर पदार्थों से विरक्त है, संसार के सुखों से उदासीन है, आत्मा के शुद्ध सुखों में अनुराग रखता है, गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभायमान है, त्यागने और ग्रहण करने योग वस्तु का निश्चय करने वाला है और धर्म ज्ञान तथा शास्त्रों के पढ़ने में लीन रहता है, वह उत्तम स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करता है ॥ १०१–१०२ ॥

गाथा— णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥ १०३ ॥

छाया— नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत ।। १०३ ।।

अर्थ— जो नमस्कार करने योग्य इन्द्रादि से हमेशा नमस्कार किया जाता है और ध्यान करने योग्य तथा स्तुति करने योग्य तीर्थंकरादि से ध्यान किया जाता है तथा स्तुति किया जाता है । ऐसे शरीर में स्थित उस अपूर्व आत्मा के स्वरूप को हे भव्य जीवो ! तुम भली भांति जानो ।। १०३ ।।

गाथा— अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी ।
तेवि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।। १०४ ।।

छाया— अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्याया साधवः पञ्च परमेष्ठिनः ।
तेऽपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हि मेशरणम् ।। १०४ ।।

अर्थ— अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी आत्मा में स्थित हैं अर्थात् ये आत्मा की ही अवस्था हैं । इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऐसी आत्मा ही निश्चय से मेरे शरणभूत है ।। १०४ ।।

गाथा— सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।। १०५ ।।

छाया— सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपश्चैव ।
चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणम् ।। १०५ ।।

अर्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और समीचीन तप ये चारों आराधना आत्मा में स्थित हैं अर्थात् आत्मा की ही अवस्था हैं । इस लिये आचार्य कहते हैं कि ऐसी आत्मा ही मेरे शरणभूत है ।। १०५ ।।

गाथा— एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ।। १०६ ।।

छाया— एवं जिनप्रज्ञप्तम् मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या ।
यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ।। १०६ ।।

अर्थ— इस प्रकार जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए मोक्षप्राभृत नामक शास्त्र को जो जीव अत्यन्त भक्तिपूर्वक पढ़ता है, सुनता है और बार २ चिन्तवन करता है वह अविनाशी सुख अर्थात् मोक्ष को पाता है ।। १०६ ।।

(७) लिंगपाहुड़

गाथा—काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेवसिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥

छाया—कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम् ।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं अर्हन्तों और सिद्धों को नमस्कार करके मुनियों के लिंग का कथन करने वाले प्राभृत शास्त्र को संक्षेप में कहूंगा ॥ १ ॥

गाथा—धम्मेण हवइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

छाया—धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः ।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यम् ॥ २ ॥

अर्थ—अन्तरंग वीतराग रूप धर्म के साथ ही मुनि का लिंग (चिन्ह) सार्थक है, केवल बाह्य लिंग से धर्म प्राप्त नहीं होता है। इसलिए हे भव्य जीव ! तू आत्मा के शुद्धस्वभावरूप भावधर्म को जान, इस बाह्य लिंगमात्र से तेरा क्या कार्य हो सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ २ ॥

गाथा—जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगिम्मि य णारदो लिंगी ॥३ ॥

छाया—यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।
उपहसति लिंगिभावं लिंगिषु च नारदः लिंगी ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पापबुद्धि वाला मुनि तीर्थंकरों का दिगम्बर रूप ग्रहण करके भी लिंगिपने की हँसी करता है अर्थात् खोटी क्रियायें करता है वह लिंगियों में नारद के समान लिंग धारण करने वाला है ॥ ३ ॥

गाथा—णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥

छाया—नृत्यति गायति तावत् वाद्यं वादयति लिंगरूपेण।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि का भेष धारण करके नाचता है, गाता है, और बाजा बजाता है, वह पाप बुद्धि वाला तिर्यञ्च-योनि अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि कदापि नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

गाथा—सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

छाया—समूहयति रक्षति च आर्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि का वेष धारण करके बहुत प्रयत्न से परिग्रह का संग्रह करता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिये आर्तध्यान करता है वह पाप बुद्धिवाला मुनि तिर्यञ्च योनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि कदापि नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

गाथा—कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वज्जदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ६ ॥

छाया—कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितः लिंगी।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥ ६ ॥

अर्थ—जो लिंगी (नग्नवेषधारी) मुनि अधिक मान से गर्वित हुआ सदैव कलह करता है, वादविवाद करता है तथा जूआ खेलता है वह पापी मुनि के वेष से इन खोटी क्रियाओं को करता हुआ नरक में उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

गाथा—पाओपहदभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥

छाया—पापोपहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण।
सः पापमोहितमतिः हिण्डते संसारकान्तारे॥ ७॥

अर्थ—पाप से नष्ट हो गये हैं शुद्धभाव जिसके, ऐसा जो मुनि दिगम्बर वेष धारण करके व्यभिचार सेवन करता है वह पापबुद्धि वाला संसार रूपी बन में घूमता है॥ ७॥

गाथा—दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि॥ ८॥

छाया—दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण।
आर्तं ध्यायति ध्यानं अनन्तसंसारिकः भवति॥ ८॥

अथ—जो लिंग (नग्नवेष) धारण करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को उपधान न बनाया अर्थात् धारण न किया और आर्तध्यान ही करता रहा तो वह मुनि अनन्त संसारी होता है अर्थात् अनन्त काल तक संसार में घूमता है॥ ८॥

गाथा—जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वज्जदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण॥ ९॥

छाया—यः योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण॥ ९॥

अर्थ—जो मुनि गृहस्थों का विवाह कराता है, खेती, व्यापार, जीवहिंसा आदि करता है। वह पापी मुनि के वेष से खोटी क्रियायें करता हुआ नरक में उत्पन्न होता है॥ ९॥

गाथा—चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं॥ १०॥

छाया—चौराणां लापराणां च युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभिः।
यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकवासम्॥ १०॥

अर्थ—जो लिंगी (नग्नवेषधारी) मुनि तीव्रकषाय वाले कामों से चोरों और झूठ बोलने वालों की लड़ाई और वादविवाद कराता है तथा चौपड शतरंज आदि खेलता है वह नरक में उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

गाथा—दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

छाया—दर्शनज्ञानचारित्रेषु तपः संयमनियमनित्यकर्मसु ।
पीड्यते वर्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो लिंगधारी मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, नियम और नित्य क्रियाओं को करता हुआ दुःखी होता है वह नरक में उत्पन्न होता है ॥११॥

गाथा—कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥

छाया—कंदर्पादिषु वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिम् ।
मायावी लिंगव्यवायी तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो लिंगधारी मुनि बहुत प्रकार के भोजनों में आसक्त होता हुआ कामसेवनादि क्रियाओं में प्रवृत होता है, वह मायाचारी तथा लिंग को दूषित करने वाला पशु के समान अज्ञानी है, मुनि कदापि नहीं हो सकता ॥१२॥

गाथा— धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरूपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥

छाया— धावति पिण्डनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिण्डम् ।
अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति सः श्रमणः ॥ १३ ॥

अर्थ— जो मुनि भोजन के लिये दौड़ता है, कलह करके भोजन करता है और दूसरों के दोष कहता है वह मुनि जिनमार्गी नहीं है ॥ १३ ॥

गाथा— गिह्लदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदोसेहिं ।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥ १४ ॥

छाया— गृह्णाति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः ।
जिनलिंगं धारंतो चोरेणव भवति सः श्रमणः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मुनि बिना दिया हुआ दान लेता है और पीठ पीछे दोष लगा कर दूसरों की निन्दा करता है, वह जिनलिंग को धारण करता हुआ भी चोर के समान है ॥ १४ ॥

गाथा— उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १५ ॥

छाया— उत्पतति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण ।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ १५ ॥

अर्थ— जो मुनि जिनलिंग से ईर्यासमिति धारण कर चलता हुआ उछलता है, गिरता है, दौड़ता है और भूमि को खोदता है वह तिर्यंचयोनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि नहीं है ॥ १५ ॥

गाथा— बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।
छिदंदि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १६ ॥

छाया— बन्धं नीरजाः सन् सस्यं खण्डयति तथा च वसुधामपि ।
छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ १६ ॥

अर्थ— जो मुनि हिंसा से होने वाले कर्मबन्ध को निर्दोष समझता हुआ धान्य नष्ट करता है, भूमि को खोदता है और अनेक बार वृक्षों को काटता है, वह तिर्यञ्चयोनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि नहीं है ॥ १६ ॥

गाथा— रागे करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १७ ॥

छाया— रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूषयति ।
दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनि न सः श्रमणः ॥ १७ ॥

अर्थ— जो मुनि स्त्रियों से निरन्तर प्रेम करता है और दूसरों को दोष लगाता है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रहित मुनि तिर्यञ्चयोनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि नहीं है ॥ १७ ॥

गाथा— पव्वज्जहीणगहिणं णेहिं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १८ ॥

छाया— प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः ।
आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥ १८ ॥

अर्थ— जो मुनि दीक्षारहित गृहस्थ और अपने शिष्य पर बहुत प्रेम रखता है और मुनियों की क्रिया तथा गुरुओं की विनय रहित है, वह तिर्यञ्चयोनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है, मुनि नहीं है ॥ १८ ॥

गाथा— एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं ।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ १९ ॥

छाया— एवं सहितः मुनिवर ! संयतमध्ये वर्तते नित्यम् ।
बहुलमपि जानन् भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥ १९ ॥

अर्थ— हे मुनिवर ! ऐसी क्रियाओं सहित जो लिंगधारी सदा संयमी मुनियों के बीच में रहता है और बहुत से शास्त्रों को भी जानता है किन्तु आत्मा के शुद्ध भावों से रहित है इस लिये वह मुनि नहीं है ॥ १९ ॥

गाथा— दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २० ॥

छाया— दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः ।
पार्श्वस्थादपि स्फुटं निकृष्टः भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥ २० ॥

अर्थ— जो लिंगधारी (दिगम्बर मुनि) स्त्रियों के समूह में विश्वास उत्पन्न करके उनको दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है अर्थात् उनको सम्यक्त्व का स्वरूप समझाता है, शास्त्र पढ़ाता है और व्रत नियमादि का पालन कराता है, वह भ्रष्ट मुनि से भी नीच है । वह निश्चय से शुद्ध भावों से रहित है, इस लिये मुनि नहीं है ॥ २० ॥

गाथा — पुंच्छलिघरि जो भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २१ ॥

छाया— पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्णाति पिण्डम्।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥ २१ ॥

अर्थ— जो लिंगधारी व्यभिचारिणी स्त्री के घर भोजन करता है, सदा उसकी बड़ाई करता है तथा शरीर को पुष्ट करता है, वह अज्ञानी है और शुद्ध भावों से रहित है इस लिये मुनि नहीं है ॥ २१ ॥

गाथा— इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहिं देसियं धम्मं।
पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ २२ ॥

छाया— इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मम्।
पालयति कष्टसहितं सः गाहते उत्तमं स्थानम् ॥

अर्थ— इस प्रकार यह लिंगप्राभृत शास्त्र ज्ञानी गणधरादि के द्वारा उपदेश किया गया है। उस मुनि धर्म को जो बड़े यत्न से पालता है वह उत्तम स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

(८) शीलपाहुडं

गाथा— वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलसमप्पावं ।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं निसामेह ॥ १ ॥

छाया— वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम् ।
त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥ १ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि मैं समस्त पदार्थों को देखने वाले और लाल कमल के समान कोमल चरण वाले श्रीवर्द्धमान स्वामी को मन वचन काय से नमस्कार करके शील अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक गुणों को कहता हूँ ॥ १ ॥

गाथा— सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो ।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥

छाया— शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधः बुधैः निर्दिष्टः ।
केवलं च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयन्ति ॥ २ ॥

अर्थ— ज्ञानी पुरुषों ने शील और ज्ञान का विरोध नहीं बताया है। किन्तु इतनी विशेषता है कि शील के बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं ॥ २ ॥

गाथा— दुक्खेणेयदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियमई य जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥ ३ ॥

छाया— दुःखेनेयते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।
भावितमतिश्च जीवः विषयेषु विरज्यते दुःखम् ॥ ३ ॥

अर्थ— ज्ञान बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, और ज्ञान को पाकर भी उसकी भावना करना उससे भी कठिन है । तथा ज्ञान की भावना वाला जीव बड़ी कठिनता से विषयों का त्याग करता है ॥ ३ ॥

गाथा— ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥ ४ ॥

छाया— तावत् न ज़ानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्तते जीवः ।
विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुरातनं कर्म ॥ ४ ॥

अर्थ— जब तक जीव विषयों के वश में रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता है, तथा ज्ञान को बिना जाने केवल विषयों का त्याग करने से पहले बांधे हुए कर्मों का नाश नहीं करता है ॥

गाथा— णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥

छाया— ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनम्।
संयमहीनं च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वम् ॥ ५ ॥

अर्थ— यदि कोई चारित्र रहित ज्ञान धारण करता है, दर्शनरहित मुनि का वेष धारण करता है और संयमरहित तपश्चरण करता है, तो यह सब कार्य निष्फल ही है ॥ ५ ॥

गाथा— णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होई ॥ ६ ॥

छाया— ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धम्।
संयमसहितं च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥ ६ ॥

अर्थ— चारित्र से पवित्र ज्ञान, दर्शन से पवित्र मुनिवेष का ग्रहण और संयमसहित तपश्चरण यदि थोड़ा भी आचरण किया जाय तो बहुत अधिक फ़ल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

गाथा— णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥

छाया— ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः।
हिण्डन्ते चातुर्गतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥ ७ ॥

अर्थ— विषयों में मोहित कुछ अज्ञानी पुरुष ज्ञान को जान कर भी विषयरूप भावों में आसक्त हुए चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करते हैं।। ७ ।।

गाथा— जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊणभावणासहिदा।
छिन्दंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ।। ८ ।।

छाया— ये पुनः विषयविरक्ताः ज्ञानं ज्ञात्वाभावनासहिताः।
छिन्दन्ति चातुर्गतिं तपोगुणयुक्ताः न सन्देहः ।। ८ ।।

अर्थ— विषयों से विरक्त हुए जो मुनि ज्ञान का स्वरूप जान कर निरन्तर उसकी भावना करते हैं, वे तप और मूलगुण तथा उत्तरगुण सहित होकर चतुर्गतिरूप संसार का नाश करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

गाथा— जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ।। ९ ।।

छाया— यथा कांचनं विशुद्धं धमत् खटिकालवणलेपेन।
तथा जीवोऽपि विशुद्धं ज्ञानविसलिलेन विमलेन ।। ९ ।।

अर्थ— जैसे सोना खडिया (सुहागा) और नमक के लेप से निर्मल और कान्तिवाला हो जाता है, वैसे ही यह जीव भी निर्मल ज्ञानरूपी जल के द्वारा पवित्र हो जाता है ।। ९ ।।

गाथा— णाणस्स णत्थि दोसो कप्पुरिसाणो विमंदबुद्धीणो।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ।। १० ।।

छाया— ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः।
ये ज्ञानगर्विताः भूत्वा विषयेषु रज्जन्ति ।। १० ।।

अर्थ— ज्ञान का घमण्ड करने वाले जो पुरुष विषयों में आसक्त होते हैं, वह ज्ञान का दोष नहीं है, किन्तु मन्दबुद्धि वाले खोटे मनुष्य ही का दोष है ।। १० ।।

गाथा—णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहियेण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ।। ११ ।।

छाया—ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानाम्॥ ११॥

अर्थ—जब सम्यक्त्व के साथ ज्ञान दर्शन और तपरूप आचरण होता है तब शुद्ध चारित्र वाले जीवों को पूर्ण मोक्ष प्राप्त होता है॥ ११॥

गाथा—सीलं रक्खताणं दंसणसुद्धाणं दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं॥ १२॥

छाया—शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम्।
अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम्॥ १२॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहने वाले, शील की रक्षा करने वाले, सम्यग्दर्शन से पवित्र और दृढ़ अर्थात् अतीचार रहित चारित्र को पालने वाले पुरुषों को निश्चय से मोक्ष पद प्राप्त होता है॥ १२॥

गाथा—विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं॥ १३॥

छाया—विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनाम्।
उन्मार्गं दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषाम्॥ १३॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने पर भी जीवों को इष्ट मार्ग अर्थात् विषयों से विरक्त रहने का सच्चा मार्ग दिखाने वाले पुरुषों को तो सच्चा मार्ग प्राप्त हो सकता है। किन्तु जीवों को खोटा मार्ग दिखाने वाले मनुष्यों का ज्ञान प्राप्त करना भी व्यर्थ है॥ १३ ८

गाथा—कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति॥ १४॥

छाया—कुमतकुश्रुतप्रशंसकाः जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि।
शीलव्रतज्ञानरहिता न स्फुटं ते आराधकाः भवन्ति॥ १४॥

अर्थ—बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानने वाले जो पुरुष खोटे धर्म और खोटे शास्त्र की प्रशंसा करते हैं, वे शील, व्रत और ज्ञान रहित हैं इसलिये निश्चय से वे इन गुणों के आराधक नहीं होते हैं॥ १४॥

गाथा—रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥ १५ ॥

छाया—रूपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकान्तिकलितानाम्।
शीलगुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म ॥ १५ ॥

अर्थ—सुन्दरता रूप लक्ष्मी का गर्व करने वाले, युवावस्था की लावण्यता और कान्ति को धारण करने वाले शीलगुणरहित जीवों का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है ॥ १५ ॥

गाथा—वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं ॥ १६ ॥

छाया—व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु।
विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार और न्याय शास्त्रों को तथा जैन शास्त्रों को जान कर भी शील अर्थात् सदाचरण धारण करना ही उत्तम माना गया है ॥ १६ ॥

गाथा—सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउराणं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥ १७ ॥

छाया—शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति।
श्रुतपारगप्रचुराणं दुःशीला अल्पकाः लोके ॥ १७ ॥

अर्थ—शीलरूप गुण से सुशोभित भव्य जीवों को देव भी चाहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के जानने वाले बहुत से पुरुषों में शील रहित पुरुष बहुत थोड़े हैं ॥ १७ ॥

गाथा—सव्वे विय परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवयावि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥ १८ ॥

छाया—सर्वैरपि परिहीनाः रूपविरूपा अपि पतितसुवयसो ऽपि।
शीलं येषु सुशीलं सुजीवितं मानुष्यं तेषाम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो सब प्रकार से हीन हैं, कुरूप हैं, सुन्दर अवस्था रहित हैं अर्थात् वृद्ध हो गये हैं। ऐसा होने पर भी जिनका शील उत्तम है अर्थात् जो विषयों में आसक्त नहीं हैं उनका मनुष्य जन्म पाना प्रशंसा के योग्य है ॥ १८ ॥

गाथा— जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥

छाया— जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषौ।
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

अर्थ—जीवों की दया, इन्द्रियों पर विजय, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप ये सब गुण शील के परिवार हैं अर्थात् शील के होने पर ये सब गुण स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं ॥१९॥

गाथा— सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धीय णाणसुद्धीय।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥२०॥

छाया— शीलं तपो विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च।
शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम् ॥२०॥

अर्थ— शील ही निर्मल तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है; शील ही विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्षरूपी महल की सीढ़ी है ॥२०॥

गाथा— जह विसयलुद्ध विसदो तह थावर जंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥

छाया— यथा विषयलुब्धः विषदः तथा स्थावरजंगमान् घोरान्।
सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥

अर्थ—जैसे विषयों के वश में हुआ जीव विषयों के द्वारा स्वयं ही मारा जाता है, वैसे ही त्रस और स्थावर सभी भयानक जीवों को विषय रूप विष नाश कर देता है। इसलिये विषयों का विष अत्यन्त तीव्र होता है ॥ २१ ॥

गाथा—वारि एकम्मिय जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहिया णं भमंति संसारकांतारे ॥ २२ ॥

छाया—वारे एकस्मिन् च जन्मनि गच्छेत् विषवेदनाहतः जीवः ।
विषयविषपरिहृता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥ २२ ॥

अर्थ—विष की पीड़ा से मरा हुआ जीव तो एक ही बार दूसरा जन्म पाता है, किन्तु विषय रूप विष से मरे हुए जीव संसार रूप बन में ही घूमते रहते हैं ॥ २२ ॥

गाथा—णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु य दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥ २३ ॥

छाया—नरकेषु वेदनाः तिर्यक्षु मानुषेषु दुःखानि ।
देवेषु च दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥ २३ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने वाले जीव नरक गति में वेदना सहते हैं, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति में बहुत दुःख भोगते हैं तथा देवगति में भी दुर्भाग्यपने को प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

गाथा—तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खपंति विसयं विस व खलं ॥ २४ ॥

छाया—तुषधमब्दलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति ।
तपः शीलमन्तः कुशलाः क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलम् ॥

अर्थ—जैसे तुषों के उड़ाने से मनुष्यों की कोई हानि नहीं होती है, वैसे ही तप और शील को धारण करने वाले चतुर पुरुष विषय रूप विष को खल के समान तुच्छ समझकर फैंक देते हैं अर्थात् उनका त्याग कर देते हैं ॥ २४ ॥

गाथा—वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु ।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ २५ ॥

छाया—वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।
अंगेषु च प्राप्तेषु च सर्वेषु च उत्तमं शीलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—मनुष्य के शरीर में गोल, खण्डरूप (अर्द्धगोल) सरल और विशाल अंग प्राप्त होने पर भी सब अंगों में शील ही उत्तम अंग माना गया है, अर्थात् सुन्दर अंग वाला मनुष्य भी शील के बिना शोभा नहीं पाता है ॥ २५ ॥

गाथा—पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयंघरट्टं व भूदेहिं ॥ २६ ॥

छाया—पुरुषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः ।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥ २६ ॥

अर्थ—मिथ्याधर्म के श्रद्धान से अज्ञानी और विषयों में आसक्त पुरुष रहट की घड़ी के समान संसार में घूमते हैं तथा उनके साथ रहने वाला दूसरा पुरुष भी अवश्य संसार में घूमता है ॥ २६ ॥

गाथा— आदे हि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागमोहेहिं ।
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ २७ ॥

छाया— आत्मनि हि कर्मग्रन्थिः या बद्धा विषयरागमोहैः ।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥ २७ ॥

अर्थ— जो कर्मों की गांठ विषयों की आसक्तता और मोहभाव के कारण आत्मा में बंधी है उसको चतुर पुरुष तप, संयम और शील आदि गुणों से अर्थात भेद ज्ञान के द्वारा काट देते हैं ॥ २७ ॥

गाथा— उदधीव रदणभरिदो तवविणयं सीलदाणरयणाणं ।
सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ २८ ॥

छाया— उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानाम् ।
शोभते च सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥ २८ ॥

अर्थ— जैसे रत्नों से भरा हुआ समुद्र जल से ही शोभा पाता है वैसे ही आत्मा तप, विनय, शील, दान आदि गुणरूपी रत्नों में शीलसहित ही शोभा पाता है ॥ २८ ॥

गाथा— सुहणाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।
जे सोधंति चउत्त्थं पिच्छिज्जंता जणेहिं सव्वेहिं ॥ २६ ॥

छाया— शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।
ये साधयन्ति चतुर्थं दृश्यमानाः जनैः सर्वैः ॥ २६ ॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि क्या कहीं कुत्तों, गधों, गाय आदि पशुओं और स्त्रियों को मोक्ष होता देखा गया है अर्थात् नहीं। किन्तु जो चौथे पुरुषार्थ (मोक्ष) को सिद्ध करते हैं वे शीलवान् मनुष्य ही सब लोगों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते देखे गए हैं ॥ २६ ॥

गाथा— जइ विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ ३० ॥

छाया— यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः ।
तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतः नरकम् ॥ ३० ॥

अर्थ— यदि विषयों के लोलुपी और ज्ञानी पुरुषों को मोक्ष प्राप्त होना मान लिया जाय तो देश पूर्व का ज्ञानी वह सात्यकिपुत्र नरक में क्यों गया ॥ ३० ॥

गाथा— जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो ।
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं णिम्मलो जादो ॥ ३१ ॥

छाया— यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः ।
दशपूर्विकस्य भावः च न किं निर्मलः जातः ॥ ३१ ॥

अर्थ— यदि बुद्धिमानों ने शील के विना ज्ञान ही के द्वारा शुद्ध भाव का होना बताया है तो दश पूर्वशास्त्र को जानने वाले रूद्र का भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ। इस लिए भावों की शुद्धता में शील ही प्रधान कारण है ॥ ३१ ॥

गाथा— जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा ।
ता लेहदि अरूहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥ ३२ ॥

छाया— यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनाः प्रचुराः ।
तत् लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥ ३२ ॥

अर्थ— जो जीव विषयों से विरक्त है वह बहुत अधिक नरक की पीड़ाओं को कम कर देता है । तथा वहां से निकल कर अर्हन्त पद को पाता है, ऐसा श्री-वर्धमान स्वामी ने कहा है ॥ ३२ ॥

गाथा— एवं बहुप्पयारं जिणेहिं पच्चक्खणाणदरसीहिं ।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥ ३३ ॥

छाया— एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः ।
शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥ ३३ ॥

अर्थ— इस प्रकार केवल ज्ञान से लोक के समस्त पदार्थों को देखने वाले और जानने वाले जिनेन्द्र भगवान ने शील के द्वारा प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय सुखरूप मोक्षस्थान का बहुत प्रकार से वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

गाथा— सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयार मप्पाणं !
जलणो बि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥ ३४ ॥

छाया— सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचारा आत्मनाम् ।
ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहन्ति पुरातनं कर्म ॥ ३४ ॥

अर्थ— सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पाँच आचार आत्मा के आश्रय से पूर्व बंधे हुए कर्म को जला देते हैं । जैसे आग हवा की सहायता से पुराने ईंधन को जला देती है ॥ ३४ ॥

गाथा— णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा ।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता ॥ ३५ ॥

छाया— निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धीराः ।
तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिं गतिं प्राप्ताः ॥ ३५ ॥

अर्थ— जिन जीवों ने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, धैर्यवान् हैं, तप, विनय और शीलसहित हैं और मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं वे सिद्ध कहे जाते हैं ॥ ३५ ॥

गाथा— लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमिन्थ गुणवित्थरं भविए॥ ३६॥

छाया—लावण्यशीलकुशलः जन्ममहीरुहः यस्य श्रमणस्य।
सः शीलः स महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारः भवे॥ ३६॥

अर्थ— जिस मुनि का जन्मरूप वृक्ष लावण्य (सर्वप्रिय होना) और शील (आत्म-स्वभाव का अनुभव) धारण करने में चतुर है, वही शीलवान् और महात्मा है तथा उसके गुणों का विस्तार संसार में फैलता है॥ ३६॥

गाथा— णाण झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियायत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं॥ ३७॥

छाया—ज्ञानं ध्यानं योगः दर्शनशुद्धिश्च वीर्यायत्ताः।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिम्॥ ३७॥

अर्थ— ज्ञान, ध्यान (मन की स्थिरता), योग (समाधि लगाना) और निरतीचार सम्यग्दर्शन ये गुण वीर्य के आधीन हैं अर्थात् यथाशक्ति धारण करने चाहिये। तथा सम्यग्दर्शन से रत्नत्रय प्राप्त होता है ऐसा जिन शासन में कहा है। यह रत्नत्रय आत्मा का स्वभाव है, इसी को शील भी कहते हैं॥ ३७॥

गाथा— जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तपोधणा धीरा।
सीलसलिलेण एहादा ते सिद्धालयसुहं जंति॥ ३८॥

छाया— जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यान्ति॥ ३८॥

अर्थ—जिन जीवों ने जिनभगवान् के उपदेश से वस्तु का यथार्थस्वरूप जान लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, तपरूप धन के स्वामी हैं, धैर्यवान् हैं तथा शीलरूप जल से स्नान कर चुके हैं अर्थात् आत्मा को पवित्र कर लिया है, वे मोक्ष के अविनाशी सुख को प्राप्त करते हैं॥ ३८॥

गाथा— सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिया मणविसुद्धा।
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणा पयडा॥३९॥

छाया— सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिताः मनोविशुद्धाः ।
प्रस्फोटितकर्मरजसः भवंति आराधनाः प्रकटाः ॥३६॥

अर्थ—जहां मूल गुण और उत्तर गुणों के द्वारा कर्मों को क्षीण (कमजोर) किया जाता है, जो सुख दुःख रहित है, जहां मन पवित्र रहता है और कर्मरूपी धूल नष्ट कर दी जाती है—ऐसी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चार आराधना अन्तिम समय शील के द्वारा ही प्रगट होती हैं ॥३६॥

गाथा— अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं ।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥४०॥

छाया— अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धम् ।
शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितम् ? ॥४०॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान् में उत्तम भक्ति करना सो सम्यक्त्व कहलाता है, वह तत्वों के समीचीन श्रद्धान से पवित्र है। तथा इन्द्रिय विषयों से विरक्त होना सो शील है और सम्यक्त्व तथा शील के साथ पदार्थों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्त्व और शील से भिन्न कोई ज्ञान नहीं बताया गया है अर्थात् इनके बिना जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान कहा जाता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन और शील के साथ ज्ञान की महिमा का वर्णन करने से आत्मा के पवित्र गुणों का स्मरण होता है जो निर्वाण पद को प्राप्त कराने वाला है और यही अन्तिम मंगल है। ऐसा उत्तम शील संसार में जयवन्त हो ॥

॥ इति शुभम् ॥

अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाजार, देहली ।